

काव्य और कला
तथा
अन्य निबंध

जयशंकर 'प्रसाद'



काव्य और कला

तथा अन्य निबन्ध

जयशंकर प्रसाद



ग्रन्थ-संख्या—५८

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

पंचम संस्करण
सं० २०१५ वि०
मूल्य २/००

मुद्रक
चन्द्रप्रकाश ऐरन
लीडर प्रेस, इलाहाबाद



प्रसादजी हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य की उत्कृष्टतम विभूतियों में थे, यह बात कम-से-कम हिन्दी के पाठकों से तो नहीं छिपी है। वह जैसे उच्च कोटि के कलाकार थे, वैसे ही प्राचीन भारतीय साहित्य तथा आर्य-संस्कृति के प्रकाण्ड तथा मर्मज्ञ ज्ञाता थे। और इससे भी बड़ी बात यह है कि उनमें वह सच्ची सहानुभूति थी जिसके द्वारा मनुष्य सब प्रकार के भेद-भाव को भूलकर अपने मानव-बन्धुओं की भावनाओं को आत्मसात् करके उनके सुख-दुःख की वास्तविक अनुभूति कर सकता है और जिसके बिना कोई 'कवियशः प्रार्थी' व्यक्ति अमर कलाकार तो क्या, महान् साहित्यिक के पद का भी अधिकारी नहीं हो सकता। अपनी इस अद्‌भुत सृजन-शक्ति, असाधारण ज्ञान-राशि तथा उदार सहानुभूति का उन्होंने जीवन भर हिन्दी-साहित्य के भण्डार की रिक्तता को कम करने तथा उसे सर्वांगीण रूप से भरा-पूरा बनाने में ही सदुपयोग किया। हमारे जिन मनस्वियों ने हिन्दी साहित्य को इस योग्य बनाने में सहयोग प्रदान किया है कि वह अन्य भारतीय साहित्यों के बीच अपना मस्तक गर्व के साथ और बिना संकोच के ऊँचा उठा सके, उनमें प्रसादजी का बड़ा ऊँचा स्थान है। उन्होंने हिन्दी को क्या नहीं दिया? गीति-काव्य, महा-काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध आदि, हिन्दी-साहित्य के

सभी विभागों में उनका कलात्मक सदुद्योग दिखाई दे रहा है और उनकी कीर्ति-पताका फहरा रही है। हिन्दी-संसार उनका ऋणी है और रहेगा; क्योंकि अपनी कृतियों से अपने लिए अमर कलाकारों में स्थान प्राप्त करने के साथ ही वे हिन्दी का भी मुख उज्ज्वल कर गये हैं। हिन्दी का साहित्याकाश इस कवि, नाटककार, उपन्यासकार और निबन्धकार के कृति-रूपी नक्षत्रों से प्रकाशमान है और चिरकाल तक रहेगा।

भारती-भण्डार का प्रसादजी के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उनकी सभी कृतियों को प्रकाशित करने का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसके लिए वह अपने को विशेष रूप से भाग्यवान् समझता है। प्रसादजी के साहित्यिक निबन्धों के इस संग्रह को साहित्य-प्रेमियों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए जहाँ उसे सन्तोष का अनुभव हो रहा है, वहाँ इस विचार से दुःख होना भी स्वाभाविक ही है कि प्रसादजी अब इस संसार में नहीं रहे। सान्त्वना के लिए उसके पास इस विचार के अतिरिक्त और क्या है कि उनके भौतिक शरीर का भले ही अन्त हो गया हो; परन्तु उनके यशःशरीर के लिए तो जरा-मृत्यु आदि किसी आपत्ति की आशंका नहीं हो सकती। सब जानते हैं कि अपने किसी आत्मीय के विछोह में इस प्रकार की भावनाओं से मन को वास्तविक सन्तोष तो प्राप्त नहीं हो सकता, फिर भी किसी-न-किसी प्रकार दुःख में धैर्य धारण तो करना ही पड़ता है।

श्री नन्ददुलारे बाजपेयीजी से तथा उनकी साहित्य-मर्मज्ञता से हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित है। निबन्धों के इस संग्रह के लिए एक योग्यता-पूर्ण तथा श्रमसाध्य भूमिका लिखकर उन्होंने पाठकों का साधारणतः और विद्यार्थियों का विशेषतः जो उपकार किया है, उसके लिए हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

प्रथम संस्करण से —प्रकाशक

प्राक्कथन

प्रसादजी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कवि और साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, एक असाधारण समीक्षक और दार्शनिक भी थे। बुद्ध, मौर्य और गुप्तकाल के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अन्वेषणों पर प्रसादजी के निबन्ध पाठक पढ़ चुके हैं। उनका महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है कि वे इतिहास की सूखी रूप-रेखा पर तत्कालीन व्यापक उन्नति या अवनति के कारणों और रहस्यों का रंग चढ़ा देते हैं। व्यक्तियों और समूहों की कृतियों का ही नहीं, उन विचारधाराओं का भी वे उल्लेख करते हैं, जिनका सामयिक जीवन के निर्माण में हाथ रहा है। इस प्रकार प्रसादजी ने इतिहास के अस्थिपंजर को कार्य-कारण-युक्त दार्शनिक सजीवता प्रदान की है, जिससे उसका अध्ययन करने में एक अनोखा आनन्द प्राप्त होता है। वे इतिहास को मानवनिर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगों, मनोवृत्तियों और रहन-सहन की पद्धतियों के साथ देखना चाहते हैं और मनुष्यों की इन सारी प्रगतियों का केन्द्र सम-सामयिक दर्शन को मानते हैं। इस प्रकार मानवजीवन का अन्तः-प्रेरण दर्शन को और बहिर्विकास इतिहास को मानकर वे इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। कोरी भौतिक घटनाओं का इतिहास या कोरा पारमार्थिक दर्शन उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते।

प्रसादजी की इस दृष्टि के कारण भारतीय इतिहास और दर्शन दोनों

ही राष्ट्रीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग बन गये हैं, कहीं भी इनका विछोह नहीं होने पाया। जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन है, वहाँ मानव-जीवन और इतिहास की पृष्ठभूमि अवश्य है और जहाँ कहीं किसी राष्ट्रीय मानवीय उद्योग का आकलन है, वहाँ भी दर्शन का साथ कभी नहीं छूटा। प्रस्तुत पुस्तक में प्रसादजी की साहित्यिक समीक्षाओं का संग्रह है। साहित्य भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया ही है; इसलिए हम देखते हैं कि प्रसादजी ने इन निबन्धों में भारतीय दार्शनिक अनुक्रम का साहित्यिक अनुक्रम से युगपत सम्बन्ध तो स्थापित किया ही है, प्रसंगवश दर्शन और साहित्य की समानता भी मानवात्मा के सम्बन्ध से सिद्ध की है। मुख्य-मुख्य दार्शनिक धाराओं के साथ मुख्य-मुख्य काव्य-धाराओं का समीकरण करके इन दोनों का इतिहास भी प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में हमारे सामने रक्खा है।

प्रसादजी की ये उद्भावनाएँ इतनी मार्मिक हैं, इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है, और साथ ही इनकी मनोवैज्ञानिक विवृत्ति इतनी सुन्दर रीति से हृदय का स्पर्श करती है कि हम सहसा यह भूल जाते हैं कि ये अधिकांश एकदम नवीन हैं, किसी क्रमागत विचार-परिपाटी से इनका सम्बन्ध नहीं है। किन्तु नवीन होना इनका दोष नहीं है, गुण ही है, क्योंकि परम्परागत शैली के अनुयायी तो केवल लीक पीट रहे थे। जब उन लीक पीटनेवालों से हिन्दी का कल्याण होता नहीं दीखा और नव-शिक्षित समाज की तीव्र दार्शनिक पिपासा शान्त नहीं हुई, तभी तो इस प्रकार की विचारधाराओं और व्याख्याशैलियों की ओर प्रसादजी जैसे दो-चार इने-गिने विद्वानों की अभिरुचि हुई।

किन्तु परम्परागत व्याख्याशैली से दूर हटकर भी प्रसादजी ने प्राचीन सांकेतिक शब्दावली का, वह साहित्यिक हो या दार्शनिक, त्याग कहीं नहीं किया; अपितु अपनी दृष्टि से उसकी यथातथ्य व्याख्या ही की है। न उन्होंने उन पारिभाषिक शब्दों का अनुचित या अन्यथा प्रयोग ही किया है, जैसा कि आधुनिक असंस्कृतज्ञ करने लगे हैं। इसका कारण यही है

कि प्रसादजी ने दर्शन और साहित्य-शास्त्रों का विस्तृत अध्ययन किया था और कहीं भी शाब्दिक खींच-तान या अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा नहीं की। यह बात दूसरी है कि उनकी उपपत्तियाँ सबको एक-सी मान्य न हों; किन्तु जिन्हें वे मान्य न हों, वे भी उन्हें अशास्त्रीय नहीं कह सकते, क्योंकि उनका आधार शास्त्र ही हैं। शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव-मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छानकर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रामाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।

अब मैं प्रसादजी की उन उपपत्तियों को, जो इस पुस्तक में हैं, संक्षेप में उपस्थित करके ही आगे बढ़ूँगा। 'काव्य और कला' निबन्ध में प्रसादजी की सब से मुख्य और महत्त्वपूर्ण उद्भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं। साहित्य-शास्त्र में काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा गया है और 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' यह श्रुति भी प्रसिद्ध है, जिसमें कवि और मनीषी (अर्थात् आध्यात्मिक) समानार्थी कहे गये हैं। किन्तु जहाँ मान्यता की बात आती है, वहाँ आध्यात्मिक क्षेत्रों में इसको अर्थवाद ही मानते हैं, सिद्धान्त-रूप में स्वीकार नहीं करते। किन्तु प्रसादजी इसे सिद्धान्त-रूप में प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि पश्चिमी विचार-प्रणाली के अनुसार जहाँ मूर्त और अमूर्त का आध्यात्मिक भेद प्रचलित है, काव्य को, मूर्त होने के कारण, आध्यात्मिक सीमा से, जिसमें अमूर्त के लिए ही स्थान है, अलग करने की चेष्टा भले ही की गई हो, किन्तु भारतीय विचारधारा में ब्रह्म मूर्त भी है और अमूर्त भी। अतः मूर्त होने के कारण काव्य को अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नहीं कह सकते।

यहीं प्रसादजी ने काव्य की मार्मिक व्याख्या की है—'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की दो धाराएँ हैं—एक काव्यधारा और दूसरी वैज्ञानिक, शास्त्रीय या दार्शनिक धारा। समम्र

रखना चाहिए कि इन दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, दोनों ही आत्मा के अखण्ड संकल्पात्मक स्वरूप के दो पहलू-मात्र हैं।' कुछ लोग श्रेय और प्रेय-भेद से विज्ञान और काव्य का विभाजन करते हैं; किन्तु प्रसादजी का स्पष्ट मत है कि यद्यपि विज्ञान या दर्शन में श्रेय रूप से ही सत्य का संकलन किया जाता है और काव्य में प्रेय रूप की प्रधानता है, किन्तु श्रेय और प्रेय दोनों ही आत्मा के अभिन्न अंग हैं। काव्य के प्रेय में परोक्ष रूप से श्रेय निहित है। काव्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि काव्य को 'संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

इस प्रकार मूर्त और अमूर्त की द्विविधा हटा कर प्रसादजी ने श्रेय और प्रेय के झगड़े को भी साफ कर दिया है। इसका यह आशय नहीं कि वे काव्य और शास्त्र में कोई अन्तर नहीं मानते। उन्होंने न केवल इनका व्यावहारिक अन्तर माना है, प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का भी विवरण दिया है, जिसमें इन दोनों विषयों की शिक्षा पृथक्-पृथक् दो केन्द्रों में दी जाती थी। शास्त्रीय व्यापार के सम्बन्ध में प्रसादजी स्वयं कहते हैं 'मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की, कमी हो जाती है।'

किन्तु काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मान लेने और संकल्पात्मक अनुभूति की उपर्युक्त व्याख्या कर देने भर से समस्या का समाधान नहीं होता, बल्कि यहीं से शंकाएँ आरम्भ होती हैं। सबसे पहली शंका प्रसादजी ने स्वयं उठाई है और उसका उत्तर भी दिया है। वे लिखते

हैं ' कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है ? " उत्तर वे यह देते हैं—" इसीलिए तो साथ-ही-साथ 'असाधारण अवस्था' का उल्लेख किया गया है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है......जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है। "

'असाधारण अवस्था' का इस प्रकार निर्वचन कर प्रसादजी ने काव्य और उसकी व्याख्या को रहस्यात्मक पुट दिया है। वह असाधारण अवस्था क्या है, उसके स्वरूप का अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता। अवश्य वह अनुभवजन्य है, किन्तु युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित होने के कारण वह इतिहास की वस्तु भी है। इतिहास के अनुशीलन से उसका आभास हम पा सकते हैं।

प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में उस असाधारण अवस्था का ऐतिहासिक अनुशीलन भी किया है। उनके इस अनुशीलन से आत्मा की उस असाधारण अवस्था का, जिसे मननशील संकल्पात्मक अनुभूति या काव्यावस्था कहते हैं, जो परिचय प्राप्त होता है, हम बहुत संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं। यह अवस्था आत्मा की है, इसलिए स्वभावतः अवस्था के साथ-साथ आत्मा-सम्बन्धी विभिन्न युगों की धारणाओं का परिचय प्रसादजी देते गये हैं। आत्मा का विशुद्ध अद्वय स्वरूप आनन्दमय है और उस अद्वयता में सम्पूर्ण प्रकृति संनिहित है, यह प्रसादजी की सुदृढ़ धारणा और उपपत्ति है। आदि वैदिक काल में इस आत्मवाद के प्रतीक इन्द्र थे और यही धारा शैव और शाक्त आगमों में आगे चलकर बही। यही विशुद्ध आत्मदर्शन था, जिसमें प्रकृति और पुरुष की द्वयता विलीन हो गई थी। शैव और

शाक्त आगमों में जो अन्तर है, उसे भी प्रसादजी ने प्रकट किया है—'कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे, वे शैवागमवादी कहलाये। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्तितरंग जगत् में लीन होने की साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए।' आत्मा का यही विशुद्ध अद्वय प्रवाह परवर्ती रहस्यात्मक काव्य में प्रसरित हुआ, इसीलिए प्रसादजी रहस्यात्मक काव्यधारा को ही आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शक्ति और आनन्दप्रधान धारा थी जिसमें आदर्शवाद, यथार्थ-वाद, दुःखवाद आदि बौद्धिक, विवेकात्मक आदि, प्रसादजी के मत से अनात्म-वादों का, स्वीकार नहीं था। दुःख या करुणा के लिए यहाँ भी स्थान था, किन्तु यहाँ वेदना आनन्द की सहायक और साधक बनकर ही रह सकी।

इससे भिन्न दूसरी धाराओं के कई विभाग प्रसादजी ने किये हैं, किन्तु स्थूल रूप से उन्हें हम विवेकवादी या अनात्मवादी धारा के अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं धाराओं के प्रतीक वैदिक काल में वरुण (जो एकेश्वर-वाद के आधार हुए और जिनकी गणना असुरों में भी की गई) और परवर्त्ती काल में अनात्मवादी बौद्ध थे जो चैत्यपूजक हुए। पौराणिक काल में इसी दुःखवादी विचारधारा की प्रधानता थी और राम इसी विवेक-पक्ष के प्रतिनिधि थे। कृष्ण के चरित्र में यद्यपि आनन्द की मात्रा कम न थी; किन्तु मुख्य पौराणिक विचारधारा—दुःखवाद—से उनकी चरित्र-सृष्टि भी आक्रान्त है। शांकर वेदान्त बौद्धों के दुःखवाद में संसार से अतीत सच्चिदानन्द-स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। यह आदिम आर्य आत्मवाद की दुःख से मिश्रित धारा है। यद्यपि इसमें आत्मा की अमरता और आनन्द-मयता का संदेश है, किन्तु संसार मिथ्या या माया की आर्त पुकार भी है। परवर्त्ती भक्ति-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में प्रसादजी की धारणा है कि ये अनात्म-वादी बौद्धों के ही पौराणिक रूपान्तर हैं। अपने ऊपर एक त्राणकर्त्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखसम्भूत दर्शन का ही परिणाम

हैं। यद्यपि प्रसादजी का यह मत है कि 'मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है' किन्तु भक्ति-सम्प्रदायों में यह प्रेरणा दृढ़मूल नहीं हो सकी और दुःखवादी या रक्षावादी विचारों ने उस पर कब्जा कर लिया। कबीर आदि निर्गुण सन्त भी दुःखवादी ही थे, समय की आवश्यकता से सच्चे आनन्दवादी रहस्यवादियों को उनके लिए स्थान करना पड़ा।

प्रसादजी ने केवल ये आरोप ही नहीं किये, इनके लिए प्रमाणों की भी व्यवस्था की है। वैदिक-काल के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—'सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा (इन्द्र की उपासना) का अधिक स्वागत किया, क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे।.....आत्मा में आनन्द भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया और आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इन्द्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पनाएँ हुईं। किन्तु इस आत्मवाद और यज्ञवाली विचारधारा की वैदिक आर्यों में प्रधानता हो जाने पर भी, कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे।.... उन व्रात्यों ने अत्यन्त प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के क्रम को प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्भावना की।....वृष्णि-संघ व्रज में और मगध में अयाज्ञिक आर्य बुद्धिवाद के आधार पर नये-नये दर्शनों की स्थापना करने लगे। इन्हीं के उत्तराधिकारी वे तीर्थंकर लोग थे जिन्होंने ईसा से हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की।...फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि वे बुद्धिवादी, अपरिग्रही, नग्न, दिगम्बर; पानी गरम करके पीनेवाले और मुँह पर कपड़ा बाँध कर चलनेवाले हुए। इन लोगों के आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे।'

इस प्रसंग को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है। पाठक

मूल में ही उसे पढ़ेंगे। यहाँ इसी के साथ अब भारतीय साहित्य की प्रमुख धाराओं और अंगों के सम्बन्ध में प्रसादजी की धारावाहिक समीक्षा का सारांश उपस्थित किया जाता है जो उन्होंने काव्य की अपनी मूल परिभाषा को स्पष्ट करते हुए की है। ऊपर कह चुके हैं कि प्रसादजी रहस्यवाद को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। यह काव्यात्मक रहस्यवाद वैदिक-काल के 'ऊषा' और 'नासदीय' सूक्तों में, अधिकांश उपनिषदों में, शैव-शाक्तादि आगमों में, आगमानुयायी स्पन्दशास्त्रों में, सौन्दर्य-लहरी आदि रहस्यकाव्य में तथा सहजानन्द के उपासक नागप्पा, कन्हप्पा आदि आगमानुयायी सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। बीच में इन रहस्यवादी सम्प्रदायों के 'बौद्धिक गुप्त कर्मकाण्ड की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृंखलता से पार कर चुकी थी। यही अवसर रहस्यवादियों के ह्रास का था। किन्तु फिर भी इस धारा का अत्यन्ताभाव कभी नहीं हुआ। पिछले खेवे भी तुकनगिरि और रसालगिरि आदि, सिद्धों के रहस्य-सम्प्रदाय के शुद्ध रहस्य-वादी कवि, लावनी में आनन्द और अद्वयता की धारा बहाते रहे।' प्रसादजी का यह भी स्पष्ट मत है कि 'वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यञ्जना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' के समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।' उनके शब्दों में 'वर्त्तमान रहस्यवाद की धारा (जिसे छायावाद काव्य भी कहते हैं) भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।'

यह न समझना चाहिए कि काव्यात्मक रहस्यवाद बस इतना ही है। इतना तो वह तब होता, जब प्रसादजी की दृष्टि पूर्ण साहित्यिक न होकर मुख्यतः साम्प्रदायिक होती। काव्य में जहाँ कहीं वास्तविक आनन्द या रस का प्रवाह है, वहीं आत्मा की संकल्पात्मक प्रेरणा है और वहीं वह 'असाधारण अवस्था' है, जिसे काव्य की—विशेषकर रहस्यकाव्य की—

जन्मदात्री माना गया है। जिन काव्यों का प्रवाह आनन्दस्रोत से उद्रिक्त है, दुःख जिनमें निमित्त बन कर आया है, लक्ष्य नहीं—जो मुख्यतः प्रगतिशील सांस्कृतिक सृष्टियाँ हैं—वे सभी प्रसादजी की रहस्य-काव्य की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाती हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटक एक प्रधान अंग है। नाटक में रस या आनन्द की प्रधानता मानी गई है। साहित्य के अन्य अंग काव्य, उपन्यास आदि तो दुःखान्त हो सकते हैं; किन्तु नाटकों के लिए ऐसी व्यवस्था सर्वमान्य रही है कि उनमें दुःखान्त सृष्टि नहीं होनी चाहिए। प्रसादजी ने इसका कारण यह बतलाया है कि नाटकों में आनन्द या रस का साधारणीकरण होता है। प्रत्येक दर्शक अभिनीत वस्तु के साथ हृदय का तादात्म्य करके पूर्ण रस की अनुभूति करता है। वह अभिनीत दृश्यों से एकाकार हो जाता है, इसलिए अभिनीत वस्तु में न तो व्यक्ति-वैचित्र्य (अद्भुत चरित्र-सृष्टि) के लिए अधिक स्थान माना गया है, न दुःखातिरेक के लिए। इसका आशय यह नहीं है कि नाटक में दुःख के दृश्यों के लिए स्थान ही नहीं है, अथवा आनन्द के, रस के, नाम पर श्रेयहीन प्रेय का ही प्राधान्य है। इसका आशय केवल इतना है कि नाटक में आत्मा की संकल्पात्मक, सांस्कृतिक प्रेरणाओं की प्रधानता होती है, क्योंकि वे मुख्यतः जनसमाज के मनोरंजन के साधन होते हैं। आये दिन सिनेमा की दृश्यावली में भी हम इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को पाते हैं, यद्यपि उनमें सर्वत्र श्रेय और सुरुचि का ध्यान नहीं रक्खा जाता।

प्रसादजी की अन्य उपपत्ति यह भी है कि दार्शनिक रहस्यवाद का नाटकीय रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार रहस्यवाद में आनन्द के पक्ष की प्रधानता है, उसी प्रकार नाटक में भी। जिस प्रकार भक्ति आदि विवेक और उपासना-मूलक दर्शन को अद्वैत-रहस्य में स्थान नहीं है, उसी प्रकार भक्ति की रस में गणना नहीं हो सकती। यह स्पष्ट ही इसलिए कि भक्ति-काव्य के पात्रों और व्यवहारों का नाटक-द्वारा रसरूप में साधारणीकरण नहीं हो सकता। वे पात्र तो उपासना के हैं, उनका

साधारणीकरण हो कैसे ? इसलिए वे साहित्यिक अर्थ में नीरस हैं। साहित्यिक रस तो तभी तक है जब तक तादात्म्य की पूर्ण सुविधा है।

इसी तादात्म्य या साधारणीकरण के प्रसंग को लेकर प्रसादजी ने वह अत्यन्त मार्मिक दार्शनिक निष्पत्ति की है, जिसके आधार पर उनका सारा ऊर्ध्व-लिखित विवेचन स्थिर है। वह निष्पत्ति पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थिर है। अभिनय देखते हुए दर्शक के हृदय में साधारणीकरण या दाम्पत्य के आधार पर जो रसानुभूति होती है, वह साहित्यिक-शास्त्र से सर्वथा स्वीकृत है और ब्रह्मानन्द-सहोदर कही गई है। किन्तु साधारणीकरण होता किस वस्तु का है ? अभिनीत पात्रों के प्राकृतिक व्यवहारों और वासनाओं का। इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक वासनाओं का आत्म-स्वरूप में स्वीकार ही रस का हेतु है—वह रस जो ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निलका कि ब्रह्मानन्द-सहोदर रस प्रकृति के उपादानों से ही बना है—उनका बहिष्कार कर के किन्हीं अलौकिक उपादानों द्वारा नहीं। दार्शनिक क्षेत्र में यही उपपत्ति इस प्रकार ग्रहण की जायगी कि आनन्द की सत्ता को प्रकृतिबाह्य मानने की आवश्यकता नहीं है, प्रकृति का आनन्द-स्वरूप में स्वीकार ही वास्तविक अद्वैत है।

यहाँ फिर यह कहने की आवश्यकता है कि प्राकृतिक वासनाओं का जो साधारणीकरण रस-रूप में होता है, वह श्रेयहीन प्रेय नहीं है, श्रेयपूर्ण प्रेय है। वह प्राकृतिक द्वैत से संयुक्त नहीं है, आत्मिक अद्वैत से निष्पन्न है। उपकरण प्रकृति है ; किन्तु आत्म-विरहित प्रकृति नहीं। यह रस आत्मा की मननशीलता का परिणाम है, कोई प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं। इसी अर्थ में प्रसादजी ने काव्य को आध्यात्मिक वस्तु सिद्ध किया है और इसी अर्थ में वे प्राकृतिक सत्ता का आत्मसत्ता में समन्वय करते हैं।

प्रसादजी का यह मन्तव्य है कि आत्मा की यह विशुद्ध अद्वय तरंग जैसी प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रवाहित है, वैसी अन्य साहित्यिक कृतियों में नहीं। उनका कथन यह है कि नाट्य-साहित्य में रस, या

आनन्द अनिवार्य होने के कारण काव्य की मूल रहस्यात्मक धारा नाटकों में प्रवर्तित हुई। रामायण और महाभारत-जैसे महाकाव्य भी विवेकवाद से (जो दुःखवाद का ही एक रूप है) अभिभूत हैं। उनमें से एक (रामायण) आदर्शात्मक विवेकवाद की पद्धति पर रचा गया है और दूसरा यथार्थवादात्मक पद्धति पर। दोनों के मूल में विवेक या विकल्प का अंश है। पूर्णतः संकल्पात्मक ये कृतियाँ नहीं हैं। आदर्शवाद और यथार्थवाद इन शब्दों का प्रयोग स्पष्ट रूप से इस प्रसंग में न करने पर भी प्रसादजी का आशय यही जान पड़ता है। ये शब्द प्रसादजी ने आधुनिक प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ में व्यवहृत किये हैं, जिसे हम आगे देखेंगे। यहाँ समझने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आदर्शवाद में लोकोत्तर चरित्रों और भावों का समावेश प्रसादजी ने माना है और यथार्थवाद में लोकसामान्य घटनाओं, मनोवृत्तियों आदि का। किन्तु ये दोनों ही वाद प्रसादजी की सम्मति में बौद्धिक या विवेकप्रसूत हैं। ये रसात्मक या आनन्दात्मक नहीं हैं।

यही नहीं प्रसादजी का मत है कि पौराणिक साहित्यिक से लेकर अधिकांश श्रव्य काव्य (जिन्हें प्रसादजी ने समयोपयोगी 'पाठ्य काव्य' नाम दिया है) जिनमें कथासरित्सागर और दशकुमार चरित की 'यथार्थवादी' रचनाएँ और कालिदास, अश्वघोष, दण्डी, भवभूति और भारवि का काव्यकाल भी सम्मिलित है, बाहरी आक्रमण से हीनवीर्य हुई जाति की कृतियाँ हैं। इनमें प्राचीन अद्वैत-भावापन्न 'नाट्यरस' नहीं है। 'आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था (वह रहस्यात्मक प्रेरणा) नहीं है, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।'

संक्षेप में प्रसादजी की मुख्य विवेचना यहाँ समाप्त हो जाती है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि उन्होंने एक ओर आनन्दप्रधान, रहस्यात्मक, रसात्मक और दूसरी ओर विवेकप्रधान, बौद्धिक या आलंकारिक

साहित्य की दो कोटियाँ स्थिर की हैं और उन्हें अद्वैत और द्वैत दर्शन से क्रमशः अनुप्राणित माना है। इस प्रकार का श्रेणी-विभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परिचायक है। हिन्दी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में प्रायः यह अश्रुतपूर्व है। अवश्य ही ये श्रेणियाँ बहुत दृष्टि से परस्पर नितांत विरोधिनी नहीं हैं, ऐसी भी सम्भावनाएँ ध्यान में आती हैं, जब ये दोनों ऊपर से एक दूसरे के बहुत निकट आ जाएँ, किन्तु इनके मूल स्रोतों, लक्षणों और प्रक्रियाओं में स्पष्ट अन्तर है। यद्यपि प्रसादजी ने यह बात कहीं स्पष्ट रूप से नहीं कही है और ऐतिहासिक शैली से ही विवेचन किया है, तो भी यह कई स्थानों पर ध्वनित होता है कि प्रथम धारा का साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील साहित्य है और दूसरी धारा का साहित्य मुख्यतः ह्रासोन्मुख है। इस विचार से हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय, तो प्रचलित धारणाओं में बहुत अधिक फेर-फार करने की आवश्यकता प्रतीत होगी।

इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के सम्बन्ध की प्रसादजी की दार्शनिक उद्भावना––प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं, वरन् उसमें पर्यवसान अद्वैत है और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकल्प है––आधुनिक आध्यात्मिक क्षेत्रों में कम उत्तेजना नहीं उत्पन्न करेगी। यद्यपि विचारपूर्वक देखा जाय, तो इसमें प्राचीन प्रवृत्तिमार्ग, अथवा आत्मा की छत्रच्छाया में निष्काम कर्म की आधुनिक आध्यात्मिक उपपत्ति से विशेष भिन्नता नहीं है, तो भी प्रकारभेद तो है ही।

प्रसादजी की सम्मति में अद्वयता की साधना ही मुख्य साहित्यिक और दार्शनिक साधना है तथा इन दोनों का ही हिन्दी-क्षेत्र में प्रायः अभाव है। साहित्य में वे आनन्द-सिद्धान्त के पृष्ठपोषक हैं (हिन्दी के भक्ति और शृंगार दोनों ही कालों में वास्तविक आनन्द की न्यूनता थी) और दर्शन में शक्ति अद्वैतवाद के सन्देशवाहक। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में इन दोनों का समन्वय हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी के अन्य आनुषंगिक विचारों का अनुशीलन भी कम उपादेय नहीं है। उदाहरणार्थ रस के प्रसंग में उन्होंने प्रदर्शित किया है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि के साहित्य सम्प्रदाय विवेकमत की उपज हैं, अकेला रसमत ही आनन्द-उद्भूत है। एक अन्य निबन्ध में आधुनिक साहित्य का हवाला देते हुए आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद आदि कई पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि 'श्री हरिश्चन्द्र ने वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण आरम्भ किया।... प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो ; परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी समय हुआ था।... यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया ; किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा। यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।'

यथार्थवाद की यह व्याख्या दार्शनिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है और श्री हरिश्चन्द्र के समय की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का संकेत करती है। अभाव के साथ-ही-साथ यथार्थवाद का एक भावपक्ष भी है, जिसमें दैनिक जीवन के यथातथ्य चित्रण, काल्पनिक के स्थान पर बौद्धिक दृष्टि, और फ्रायड की सुझाई मनोवैज्ञानिकता का अनुसरण मुख्य है। इस यथार्थवाद के साथ ऐतिहासिक भौतिक-विज्ञानवाद (Historical materialism) और नवीन कामविज्ञान का भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। सामाजिक समस्याओं का व्यावहारिक नहीं, बौद्धिक समाधान

भी इस वाद की विशेषता है। यह वाद सामाजिक उत्थान की निचली सीढ़ी, नींव अथवा जड़ के समीप रह कर ही अपनी उपयोगिता प्रकट करता है, ऊँची सांस्कृतिक भूमियों में जाने का कष्ट नहीं करता। उसकी दृष्टि मुख्यतः भौतिक विज्ञान पर स्थित है।

प्रसादजी ने आदर्शवाद के सम्बन्ध में लिखा है—'आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है।' यह आदर्शवाद की परिपाटी भी ऐतिहासिक है, सैद्धान्तिक नहीं और मेरे विचार से आदर्शवाद की यह अवनतिशील (decadent) परिपाटी है। अपनी उन्नत अभिव्यक्तियों में आदर्शवाद अतिशय निस्पृह विज्ञान है; किन्तु प्रसादजी जिस ऐतिहासिक आदर्शवाद का उल्लेख करते हैं, अपने स्थान पर वही ठीक है। वाद के रूप में आदर्श को प्रसादजी दुःखवाद की ही सृष्टि मानते हैं। इसीलिए वे कहते भी हैं—'सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है, और यथार्थवादी सिद्धान्ततः ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था।' स्पष्ट ही यहाँ प्रसादजी ने यथार्थ और आदर्श दोनों ही वादों को विवेक-प्रसूत माना है, आनन्दोद्भूत, अद्वैत अथवा सच्चा सांस्कृतिक नहीं। इसीलिए प्रसादजी की ये व्याख्याएँ प्रचलित पारिभाषिक व्याख्याओं से कुछ भिन्न हो गई हैं।

प्रसादजी स्पष्ट ही इन दोनों वादों का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि 'सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्त्व और लघुत्व दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है'; यहाँ महत्त्व और लघुत्व के दोनों सीमान्तों से प्रसादजी का तात्पर्य

ऐतिहासिक आदर्शवाद और यथार्थवाद के सीमान्तों से है। दार्शनिक सीमान्तों की ओर यहाँ उनकी दृष्टि नहीं है।

इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रसादजी सिद्धान्ततः मध्यवर्गीय थे। प्रसादजी आदर्शवाद और यथार्थवाद की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उनके रहस्यवाद या शक्तिसिद्धान्त में दोनों के अंश हो सकते हैं; किन्तु दोनों की सीमाएँ नहीं हैं और दोनों की मूल दुःखात्मकता का भी निषेध है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इसका नाम छायावाद पड़ा और ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें उक्त दोनों वर्गों (आदर्शवाद और यथार्थवाद) की मध्यस्थता के चिह्न भी सम्भव है मिलें, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह अद्वैत पर स्थित है और वे दोनों वाद द्वैत पर। प्रसादजी ने इस अन्तर का ही अधिक आग्रह किया है। उनकी मीमांसा से प्रकट होता है कि छायावाद ऊपरी दृष्टि से तो यथार्थवाद के ही निकट है (ऐसा कहते हुए उनका ध्यान आरंभिक आदर्शवादी छायावादियों की ओर नहीं गया, जिनकी एक प्रतिनिधि रचना 'साधना' है) किन्तु प्रसादजी की सम्मति में यथार्थवाद श्री हरिश्चन्द्र के 'भारत-दुर्दशा' आदि में स्थूल, बाह्य वर्णनों तक ही सीमित रहा, और दुःखप्रधान था। छायावाद में 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी।...ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। सूक्ष्म अभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था।'

यह प्रबल नवीन उत्थान किसी मध्यवर्ग के मान का नहीं था। इसके लिए नव्य दर्शन की आवश्यकता थी। यह नवीन दर्शन अद्वैत रहस्यवाद ही है, जिसके अनुसार 'विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है, जिसकी सौन्दर्यमयी व्यञ्जना वर्तमान हिन्दी में हो रही है।' छायावाद

एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी है और दार्शनिक अभ्युत्थान भी। प्रसादजी का यह स्पष्ट मत है कि दार्शनिक दृष्टि से यह अभ्युत्थान प्राचीन रहस्यात्मक परम्परा में है जिसे भूले भारत को बहुत दिन हो गये थे।

'नाटकों का आरम्भ' और 'रंग-मंच' पर प्रसादजी के दो निबन्ध प्रस्तुत पुस्तक में हैं, जिन्हें मूल में ही अध्ययन करने की आवश्यकता है। यहाँ उनका विवरण अधूरा और अप्रासंगिक भी होगा, क्योंकि उनमें व्याख्येय कोई विशेष वस्तु नहीं है, सब-का-सब विवरणात्मक है।

चार प्रश्न और भी विचारणीय हैं––वे चारों पहले ही निबन्ध (काव्य और कला) के हैं। वे प्रस्तुत पुस्तक के मूल प्रश्नों में से नहीं हैं, इसीलिए अब तक छूटे हुए थे ; किन्तु अपने स्थान पर वे सभी महत्त्व-पूर्ण हैं। पहला प्रश्न कला की परिभाषा और दूसरा मूर्त और अमूर्त आधार पर कलाओं के वर्गीकरण का है। तीसरा काव्य पर राष्ट्रीय संस्कृति का प्रभाव और अन्तिम प्रश्न काव्य में अनुभूति की प्रधानता पर है। 'कला' शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला केवल छन्द-रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य की नहीं 'समस्यापूर्ति' की गणना कला में की गई। स्पष्ट ही काव्य केवल 'समस्यापूर्ति' नहीं है, समस्यापूर्ति या छन्द तो उसका वाहनमात्र है––बिना सवार का घोड़ा। पाश्चात्य अर्थ में कला सवार-सहित घोड़ा है ; इसलिए उसकी शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक संस्कृति में उसका स्थान स्वभावतः भिन्न होना ही चाहिए।

कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न कलाओं के पाश्चात्य अर्थ में है। चित्र, संगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि कलाओं के वर्गीकरण का कुछ क्रम आवश्यक है। हीगेल ने कलाओं के मूर्त्त आधार को लेकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता के विभेद से वर्गीकरण किया है, जिसके अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म, भावमय होने के कारण साहित्य को सर्वोच्च स्थान दिया

गया है। और सबसे नीचे स्थापत्य का स्थान है, क्योंकि उसका उपकरण अपेक्षाकृत स्थूल है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यह विभाजन व्यावहारिक है और इन कलाओं की वास्तविक उच्चता या नीचता का परिचायक नहीं। काव्य भी निम्न कोटि का हो सकता है। सुन्दर मूर्ति उससे कहीं श्रेष्ठ कलावस्तु मानी जा सकती है। हीगेल का प्रयोजन इतना ही है कि और सब बातें बराबर हों, तो काव्य का स्थान उसके सूक्ष्मतर उपकरण के कारण सर्वोच्च होगा और उसके नीचे क्रमशः संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य कलाएँ होंगी। कलाओं के उत्कर्ष-अपकर्ष की तुलना यहाँ नहीं है। वह तो एक-एक कलावस्तु की समीक्षा द्वारा ही हो सकती है। यहाँ तो केवल व्यावहारिक विभाग की चर्चा है। इस सम्बन्ध में मतभेद के लिए विशेष स्थान मुझे नहीं दिखलाई देता।

तीसरा प्रश्न काव्य-साहित्य पर राष्ट्रीय संस्कृति की छाप का है। यह निश्चय है कि काव्य में राष्ट्र की स्थायी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी ने इसका एक सुन्दर उदाहरण भी दिया है—'यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।' देशान्तर और जात्यंतर से इस प्रथा में भिन्नता भी पाई जाती है। इसीलिए काव्य के देश-जाति-गति कुछ स्थायी उपलक्षण (Conventions) मानने पड़ते हैं।

अन्तिम प्रश्न काव्य में अनुभूति या अभिव्यक्ति की प्रधानता विषयक है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यक्ति की ही प्रधानता स्वीकार करता है,

किन्तु प्रसादजी अनुभूति की प्रधानता मानते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों का उदाहरण सामने रक्खा है——सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास का। वे पूछते हैं——' कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्दविन्यासपटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके ? ' प्रश्न का उत्तर भी वे देते हैं ' मैं तो कहूँगा, यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। . . . तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्रजी की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु-मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।'

प्रसादजी का यह उत्तर सोलह आना सत्य है ; किन्तु अभिव्यंजनावादियों का प्रश्न यह है कि अनुभूति है क्या वस्तु ? एक ओर तो कवि को अनुप्रेरित करनेवाले सृष्टि के वस्तु-व्यापार हैं और दूसरी ओर है कवि का काव्य या अभिव्यक्ति। इन दोनों के बीच में अनुभूति काव्य-व्यापार में कहीं भी स्वतन्त्र नहीं है। एक ओर वह बाह्य अभिव्यक्ति (संसार और उसके भावादियों) से प्रतिक्षण निर्मित होती है और दूसरी ओर काव्याभिव्यक्ति में परिणत होती है। केवल अनुभूति काव्य का कोई उपादान नहीं। अनुभूति चाहे जितनी हो, काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य-निर्माण के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आवश्यक है। अभिव्यक्ति केवल रचना कौशल नहीं है, अनुभूतिपूर्ण रचना कौशल है।

प्रसादजी का इस मत से कोई विरोध नहीं है, किन्तु वे इसकी छानबीन में उतरे नहीं हैं। हाँ, वे अभिव्यंजनावादियों की भाँति अनुभूति को गौणता न देकर उसे मुख्य मानते हैं। अनुभूति का निर्माण कैसे होता

है, यह तो प्रश्न ही दूसरा है। वस्तुतः वे अनुभूति को मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था मानते हैं, और अभिव्यंजनावादियों की व्यक्त बाह्य प्रक्रियाओं को विशेष महत्त्व नहीं देते। अभिव्यंजनावादी 'क्रोस' और रहस्यवादी 'प्रसाद' में इतना ही मुख्य अन्तर है।

अन्त में यह कहते हुए पुस्तक पाठकों के हाथ में रक्खी जा रही है कि यह अपने ढंग की अकेली रचना है, जो हिन्दी की अपनी मानी जाय और साहित्य के सुयोग्य विद्यार्थियों को स्नेह और विश्वासपूर्वक पढ़ने को दी जाय। निश्चय ही यह कहना मेरे लिए जितना सुखद है, आज उतना ही दुःखप्रद भी।

गीताप्रेस, गोरखपुर
११-३-३९

—नन्ददुलारे वाजपेयी

अनुक्रम



काव्य और कला

हिन्दी में साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण बदला हुआ-सा दिखलाई पड़ता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचार-धारा जिस क्षेत्र में काम कर रही थी, वह वर्तमान आलोचनाओं के क्षेत्र से कुछ भिन्न था। इस युग की ज्ञान-सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचनशैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा है; किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है, परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है। काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण हो गया है और उसके लिए सम्भवतः हेगेल के अनुकरण पर काव्य का वर्गीकरण कला के अन्तर्गत किया जाने लगा है। यह वर्गीकरण परम्परागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौन्दर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है। यहाँ उसकी परीक्षा करने के पहले यह

देखना आवश्यक है कि इस विचार-धारा और सौन्दर्य-बोध का कोई भारतीय मौलिक उद्‌गम है या नहीं।

यह मानते हुए कि ज्ञान और सौन्दर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौन्दर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होने वाले सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौन्दर्य-अनुभूति की तुला बन जाती है, इसी से हमारे सजातीय विचार बनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसी के द्वारा हम अपने रहन-सहन, अपनी अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप से संस्कृत रूप में प्रदर्शन कर सकते हैं। यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं; क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में, आरम्भिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। संस्कृति मन्दिर, गिरजा और मसजिद-विहीन प्रान्तों में अन्तः प्रतिष्ठित होकर सौन्दर्य-बोध की बाह्य सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। ईरानी खलीफाओं के ही कला और विद्या-प्रेम तथा सौन्दर्यानुभूति ने—जो उनकी मौलिक संस्कृति-द्वारा उनमें विद्यमान थी—मरुभूमि के एकेश्वरवाद को सौन्दर्य से सजा कर स्पेन और ईजिप्ट तक उसका प्रचार किया, जिससे वर्तमान यूरोपीय सौन्दर्य-बोध अपने को अछूता न रख सका। संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।

इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौन्दर्यानुभूति की खोज अप्रासंगिक नहीं, किन्तु आवश्यक है। साहित्य में सौन्दर्य-बोध-सम्बन्धी रुचि-भेद का वह उदाहरण बड़ा मनोरंजक है, जिसमें जहाँगीर ने शराब पीते हुए खुसरो के उस पद्य के गाने पर कव्वाल को पिटवा दिया था, जिसका तात्पर्य एक खण्डिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालम्भ था। जहाँगीर ने उस उक्ति को प्रेमिका के प्रति समझ कर अपना क्रोध प्रकट किया था। मौलाना ने समझाया कि खुसरो भारतीय कवि है, भारतीय साहित्यिक रुचि के अनुसार उसने यह स्त्री का उपालम्भ पुरुष के प्रति वर्णन किया है, तब जहाँगीर का क्रोध ठण्डा हुआ। यह रुचि-भेद सांस्कृतिक है। यहाँ पर यह विवेचन नहीं करना है कि ऐसा उपालम्भ पुरुष को स्त्री के प्रति देना चाहिए या स्त्री को पुरुष के प्रति ; किन्तु यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है ; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। **नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः** मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।

यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे, तो जहाँगीर की ही तरह प्रमाद कर बैठने की आशंका है। तो भी इस प्रसंग में यह बात न भूलनी चाहिए कि भारतीय संस्कृत वाङमय में समय-चक्र के प्रत्यावर्तनों के द्वारा इस रुचि-भेद में परिवर्तनों का आभास मिलता है। ऊपर की कही हुई सम्भावना या साहित्यिक सिद्धान्त मायावाद के प्रबलता प्राप्त करने के पीछे का भी हो सकता है ; क्योंकि कालिदास ने रति का करुण विप्रलम्भ वर्णन करने

के साथ-ही-साथ अज का भी विरह वर्णन किया है और मेघदूत तो विरही यक्ष की करुण-भाव-व्यंजना से परिपूर्ण एक प्रसिद्ध अमर कृति है।

इस प्रकार काल-चक्र के महान् प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङमय की सुरुचि-सम्बन्धी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत से मिलेंगे। उन्हें बिना देखे ही अत्यन्त शीघ्रता में आजकल अमुक वस्तु अभारतीय है अथवा भारतीय संस्कृति सुरुचि के विरुद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पड़ी है। विज्ञ समालोचक भी हिन्दी की आलोचना करते-करते 'छाया-वाद', 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्तमान हिन्दी-कविता में अचेतनों में, जड़ों में, चेतनता का आरोप करना हिन्दी-वालों ने अँगरेजी से लिया है; क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिन्दी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु (Foreign element) है। कहीं अँगरेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज लव'। फिर क्या? कहीं भी हिन्दी में ईश्वर के प्रेम-रूप का वर्णन देख कर उन्हें अँगरेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है। उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थ की पञ्चदशी में कहा है **अयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।** वे भूल जाते हैं कि आनन्दवर्द्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा है—

भावानचेतनानपि　　चेतनवच्चेतनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।

ऐसे ही कुछ सिद्धान्त पिछले काल के अलंकार और रीति-ग्रन्थों के अस्पष्ट अध्ययन के द्वारा और भी बन रहे हैं। कभी यह सुना जाता है कि भारतीय साहित्य में दुःखान्त और तथ्यवादी साहित्य अत्यन्त तिरस्कृत हैं। शुद्ध आदर्शवाद का सुखान्त प्रबन्ध ही भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। तब मानो ये आलोचकगण भारतीय संस्कृति के साहित्य-सम्बन्धी दो आलोकस्तम्भों, महाभारत और रामायण की ओर से अपनी

आँखें बन्द कर लेते हैं। ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारों की संकीर्णता से और प्रधानतः अपनी स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न हैं। सांस्कृतिक सुरुचि का, समय-समय पर हुए विशेष परिवर्तनों के साथ, विस्तृत और पूर्ण विवरण देना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है।

हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ। काव्य-मीमांसा से पता चलता है कि भारत के दो प्राचीन महानगरों में दो तरह की परीक्षाएँ अलग-अलग थीं। काव्यकार-परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार-परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। इस तरह भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों में विभक्त था। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य-समस्या-पूरण भी एक कला है; किन्तु वह समस्यापूर्ति (**श्लोकस्य समस्या-पूरणम् क्रीड़ार्थम् वादार्थम् च**) कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल-मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

ज्ञान के वर्गीकरण में पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक रुचि-भेद विलक्षण है। प्रचलित शिक्षा के कारण आज हमारी चिन्तनधारा के विकास में पाश्चात्य प्रभाव ओतप्रोत है, और इसलिए हम बाध्य हो रहे हैं अपने ज्ञान-सम्बन्धी प्रतीकों को उसी दृष्टि से देखने के लिए। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन में हम केवल निरुपाय होकर ही प्रवृत्त नहीं होते; किन्तु विचार-विनिमय के नये साधनों की उपस्थिति के कारण संसार की विचार-धारा से कोई भी अपने को अछूता नहीं रख सकता। इस सचेतनता के परिणाम में हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिए। क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल नहीं हैं।

हिन्दी में आलोचना कला के नाम से आरम्भ होती है। और

साधारणतः हेगेल के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त विभागों के द्वारा कलाओं में लघुत्त्व और महत्त्व समझा जाता है। इस विभाग में सुगमता अवश्य है; किन्तु इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की सम्भावना जैसी पाश्चात्य साहित्य में है, वैसी भारतीय साहित्य में नहीं। उनके पास अरस्तू से लेकर वर्तमान काल तक की सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धिनी विचार-धारा का क्रमविकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्य में वैसा सामञ्जस्य नहीं है। बीच-बीच में इतने अभाव या अन्धकार-काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण और लोप होती दिखाई देती हैं, जिन्होंने हमारी सौन्दर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है।

यों तो पाश्चात्य वर्गीकरण में भी मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल में ग्रीस का दार्शनिक प्लेटो कविता का संगीत के अन्तर्गत वर्णन करता है; किन्तु वर्तमान विचार-धारा मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओं का भेद करते हुए भी कविता को अमूर्त्त संगीत-कला से ऊँचा स्थान देती है। कला के इस तरह विभाग करनेवालों का कहना है कि मानव-सौन्दर्य-बोध की सत्ता का निदर्शन तारतम्य के द्वारा दो भागों में किया जा सकता है। एक स्थूल और बाह्य तथा भौतिक पदार्थों के आधार पर ग्रथित होने के कारण निम्न कोटि की, मूर्त्त होती है। जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके, वह मूर्त्त है। गृह-निर्माण-विद्या, मूर्तिकला और चित्रकारी, ये कला के मूर्त्त विभाग हैं और क्रमशः अपनी कोटि में ही सूक्ष्म होते-होते अपना श्रेणी-विभाग करती हैं।

संगीत-कला और कविता अमूर्त्त कलाएँ हैं। संगीत-कला नादात्मक है और कविता उससे उच्च कोटि की अमूर्त्त-कला है। काव्य-कला को अमूर्त्त मानने में जो मनोवृत्ति दिखलाई देती है वह महत्त्व उसकी परम्परा के कारण है। यों तो साहित्य-कला उन्हीं तर्कों के आधार पर मूर्त्त भी मानी

जा सकती है; क्योंकि साहित्य-कला अपनी वर्णमालाओं के द्वारा प्रत्यक्ष मूर्त्तिमती है। वर्णमातृका की विशद् कल्पना तन्त्र-शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गई है। 'अ' से आरम्भ होकर 'ह' तक के ज्ञान का ही प्रतीक अहं है। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, जितने ज्ञान हैं, अहं के––आत्मा के हैं। वे सब वर्णमाला के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के सम्बन्ध में अनेक प्राचीन देशों की आरम्भिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि वह वास्तव में चित्र-लिपि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्रकला और वाङमय भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं। इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न कर के केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।

सम्भव है कि इसी अमूर्त्त सम्बन्धिनी महत्ता से प्रेरित होकर प्लेटो ने प्राचीन काल में कविता को संगीत के अन्तर्गत माना हो। उनकी विचार-पद्धति में कविता की आवश्यकता संगीत के लिए है। सम्भवतः अमूर्त्त संगीत आभ्यन्तर और मूर्त्त शरीर बाह्य इन्हीं दोनों आधारों पर कला की नींव ग्रीस के विचारकों ने रक्खी; सो भी बिलकुल भौतिक दृष्टि से–– अध्यात्म का उसमें सम्पर्क नहीं। इसीलिए प्लेटो का शिष्य अरस्तू कला को अनुकरण (imitation) मानता है। लोकोत्तर आनन्द की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा गया।

कौटिल्य की तरह लोकोपयोगी राजशास्त्र को प्रधान मानते हुए व्यक्तिगत जीवन के स्वास्थ्य के लिए प्लेटो संगीत और व्यायाम को मुख्य उपादेय विद्या की तरह ग्रहण करता है। संगीत का मन से और व्यायाम का शरीर से सीधा सम्बन्ध जोड़कर वह लोक-यात्रा की उपयोगी वस्तुओं का संकलन करता है।

वर्तमान-काल में सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपना अलग विचार-विस्तार करने लगा है। इसके आविर्भावक हेगेल के मतानुसार कला के ऊपर धर्म-शास्त्र का और उससे भी ऊपर दर्शन का स्थान है।

इस विचार-धारा का सिद्धान्त है कि मानव सौन्दर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। फिर धर्म-शास्त्र के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति लाभ करता है। फिर शुद्ध तर्क-ज्ञान से उससे एकीभूत होता है।

यह भी विचार का एक कोटिक्रम हो सकता है; परन्तु भारतीय विचार-धारा इस सम्बन्ध में जो अपना मत रखती है, वह विलक्षण और अभूतपूर्व है। काव्य के सम्बन्ध में यहाँ की प्रारम्भिक और मौलिक मान्यता कुछ दूसरी थी। उपनिषद् में कहा है—**तदेतत् सत्यम् मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायाम् बहुधा सन्ततानि।** कवि और ऋषि इस प्रकार पर्यायवाची शब्द प्राचीन काल में माने जाते थे। **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।** ऋषि लोग या मन्त्रों के कवि उन्हें देखते थे। यही देखना या दर्शन कवित्व की महत्ता थी।

इतना विराट् वाङ्मय और प्रवचनों का वर्णमाला में स्थायी रूप रखते हुए भी कविता शुद्ध अमूर्त्त नहीं कही जा सकती। मूर्त्त और अमूर्त्त के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा है—**द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च—बृहदारण्यक (२—३)**

मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वायु और आकाश अमूर्त्त, अविनश्वर हैं; इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्तनशील) हैं। इस तरह मूर्त्त और अमूर्त्त का भौतिक भेद मानते हुए भी रूप दोनों में ही माना गया है। तब यह विश्वास होता है कि हमारे यहाँ रूप की साधारण परिभाषा से विलक्षण कल्पना है। क्योंकि बृहदारण्यक में लिखा है:—

स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति हो वाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि।

वह आदित्य आलोक-पुञ्ज आँखों में प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठा

रूप में है और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है; क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त रूप हैं, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौन्दर्य-बोध-सम्बन्धी दो धारणाएँ अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-ही-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं। इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

ग्रीक लोगों को सौन्दर्य-बोध में जो एक क्रम-विकास दिखलाई पड़ता है, उसका परिपाक सम्भवतः पश्चिम में इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव-स्वभाव सौन्दर्यानुभूति के द्वारा क्रमविकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है। इसमें स्वर्ग और नरक का, जगत् की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्त्व की स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है और इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति ओत-प्रोत है। कलुषित और मूर्त्त संसार निम्न कोटि में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्च कोटि में।

भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रह्मवाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रह्म से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता। वह विश्व को ब्रह्म का स्वरूप बताता है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्मपश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

आगमों में भी शिव को शक्ति-विग्रही मानते हैं। और यही पक्की अद्वैत-भावना कही गई है; अर्थात्—पुरुष का शरीर प्रकृति है। कदाचित् अर्द्धनारीश्वर की संश्लिष्ट-कल्पना का मूल भी यही दार्शनिक विवेचन है। सम्भवतः पिछले काल में मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा

ही भारतीय अवतारवाद की जननी है। कला के ईसाई आलोचक हेवेल ने सम्भवतः इसीलिए कहा है कि--The Hindu draws no distinction between what is sacred and profane.

पूर्व, भारत से पश्चिम का यह मौलिक मतभेद है। यही कारण है कि पश्चिम स्वर्गीय साम्राज्य की घोषणा करते हुए भी अधिकतर भौतिक या materialistic बना हुआ है और भारत मूर्ति-पूजा और पञ्च-महायज्ञों के क्रियाकाण्ड में भी अध्यात्म-भाव से अनुप्राणित है।

यही कारण है कि ग्रीस-द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त्त को, विशेषता देकर उसकी सीमा में ही उसे पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचार-धारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सौन्दर्य-बोध में पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त भेद-सम्बन्धी कल्पना विवेचन की रीढ़ बन रही है। जब यह अमूर्त्त के साथ सौन्दर्य-शास्त्र का सम्बन्ध ठहराती है, तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। इसका कारण यही है कि वे सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त्त सौन्दर्य कहकर घोषित करते हैं, जो सौन्दर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल प्रेय तक पहुँच पाते हैं। श्रेय, आत्मकल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।

सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना आरम्भ होती है। स्वाध्याय बुद्धि का यज्ञ है। कहा भी है--**सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च**--स्वाध्याय-प्रवचन में सत्य का अन्वेषण करो। स्वाध्याय के द्वारा मानव सत् को प्राप्त होता है। हमारे सब बौद्धिक व्यापारों का सत्य की प्राप्ति के लिए सतत उद्योग होता रहता है। वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में जो परिवर्तनशील होने के कारण अमृत नाम से पुकारी जाती हैं, ओतप्रोत है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि कवि से हम सत्य की आशा न करके केवल सहृदयता ही पा सकते हैं; किन्तु सत्य केवल १ + १ = २ में ही नहीं सीमित है। अमृत को प्रायः बढ़ाकर देखने से सत् लघु कर दिया गया है; किन्तु सत्य विराट है। उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओतप्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताये गये हैं--श्रेय और प्रेय। इसीलिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङमय में दो प्रकार से मानी गई है--काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामञ्जस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङमय और प्राणमय माना गया है। **यमात्मा वाङ्मयः, मनोमयः प्राणमयः (बृहदारण्यक)।** उपविज्ञात प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्-शक्ति और उनके सामंजस्य को स्थिर करनेवाली सजीवता तथा अविज्ञात प्राण-शक्ति, ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।

मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की, कमी हो जाती है। शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान को इसीलिए विज्ञान मान सकते हैं कि उसके मूल में परीक्षात्मक तर्कों की प्रेरणा है और उनका कोटि-क्रम स्पष्ट रहता है।

काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा

है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङमय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है; क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।

ज्ञान की जिस मनन-धारा का विकास पिछले काल में परम्परागत तर्कों के द्वारा एक दूसरे रूप में दिखाई देता है, उसे हेतु विद्या कहते हैं। किन्तु वैदिक-साहित्य के स्वरूप में ऊषा सूक्त और नारदीय सूक्त इत्यादि तथा उपनिषदों में अधिकांश संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए कहा है—**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।**

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है, उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। सम्भवतः इसीलिए

काव्य-समस्या-पूरण इत्यादि भी छन्दशास्त्र और पिंगल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या-कला के अन्तर्गत माना गया है। छन्द-शास्त्र काव्योपजीवी-कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का अथवा शास्त्रीय विषय है। वास्तुनिर्माण, मूर्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सब की विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तुएँ हैं।

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्व स्व कर्मभिः।
स्थपतिः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा॥ (मयमतम् ५ अध्याय)

चित्र के सम्बन्ध में भी—

चित्राभासमिति ख्यातंपूर्वैः शिल्पविशारदैः। (शिल्परत्न, अध्याय १६)

इस तरह वास्तुनिर्माण, मूर्ति और चित्र शिल्प-शास्त्र के अन्तर्गत हैं।

काव्य के प्राचीन आलोचक दण्डी ने कला के सम्बन्ध में लिखा है— **नृत्यगीतप्रभृतयः कला कामार्थसंश्रयाः** (३-१६२) नृत्य-गीत-आदि कलाएँ कामाश्रय कलाएँ हैं। और इन कलाओं की संख्या भी वे ६४ बताते हैं, जैसा कि कामशास्त्र या तन्त्रों में कहा गया है। **इत्थं कला चतुःषष्ठि विरोधः साधुनीयताम्** (३-१७१)। काव्यादर्श में दण्डी ने कला-शास्त्र के माने हुए सिद्धान्तों में प्रमाद न करने के लिए कहा है; अर्थात्—काव्य में यदि इन कलाओं का कोई उल्लेख हो तो उसी कला के मतानुसार। इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु हैं। **न तज्जानं न तच्छिल्पम् न सा विद्या न सा कला।** ११७ (१ भारत नाट्य) की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं—**कला गीत-वाद्यादिका।** इसी से गाने-बजानेवालों को अब भी कलावन्त कहते हैं।

भामह ने भी जहाँ काव्य का विषय-सम्बन्धी विभाग किया है, वहाँ वस्तु के चार भेद मानते हैं—देव-चरित शंसि, उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। यहाँ भामह का तात्पर्य है कि कला-सम्बन्धी विषयों को लेकर भी काव्य का विस्तार होता है। काव्य का एक विषय कला भी

है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला का वर्गीकरण हमारे यहाँ भिन्न रूप से हुआ है।

कलाओं में संगीत को लोग उत्तम मानते हैं, क्योंकि इसमें आनन्दांश वा तल्लीनता की मात्रा अधिक है; किन्तु है यह शुद्ध ध्वन्यात्मक। अनुभूति का ही वाङमय अस्फुट रूप है। इसलिए इसका उपयोग काव्य के वाहन-रूप में किया जाता है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है।

संगीत के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति केवल ध्वन्यात्मक होती है। वाणी का सम्भवतः वह आरम्भिक स्वरूप है। वाणी के चार भेद प्राचीन ऋषियों ने माने हैं। **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीया वाचं मनुष्या वदन्ति (ऋग्वेद)** वाणी के ये चार भेद आगे चलकर स्पष्ट कर दिये गये, और क्रमशः इनका नाम परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आगम-शास्त्रों में मिलता है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहानिहित हैं। वैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। शास्त्रों में परावाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं परामर्शमयी शक्ति माना है। पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान, द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धि-प्रधान दर्शन-स्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहती है। वैखरी स्थानकरण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करनेवाली दृश्य-प्रधान होती है।

बृहदारण्यक में कहा है—**यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणोह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति।** प्राण-शक्ति सम्पूर्ण अज्ञात वस्तु को अधिकृत करती है। वह अविज्ञात रहस्य है। इसीलिए उसका नित्य नूतन रूप दिखाई पड़ता है। फिर **यत् किञ्च विज्ञातं या च तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति,** जो कुछ जाना जा सका वही वाणी है; वाणी उसका स्वरूप धारण कर के, उस ज्ञान की रक्षा करती है।

ज्ञान-सम्बन्धी कारणों का विवेचन करने में भारतीय पद्धति ने परीक्षात्मक प्रयोग किया है। स्वप्रमितिक के ज्ञान के लिए पाँच इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष हैं। उन्हीं के द्वारा संवेदन होता है, उन में तन्मात्रा के क्रम से बाह्य पदार्थों के भी पाँच विभाग माने गये हैं। **आकाशाद् वायुः** वाले सिद्धान्त के अनुसार आकाश का गुण शब्द ही इधर ज्ञान के आरम्भ में है। जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है। यह वाणी का विकास वर्णों में पूर्ण होता है और वर्णों के लिए आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रयत्न माने गये हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न उसे कहते हैं जो वर्णों की उत्पत्ति से प्राग्भावी वायु-व्यापार है। और वर्णोत्पत्तिकालिक व्यापार को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह वाङमय-अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है—**य एकोवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धचा शुभया संयुनक्तु।** भावों को व्यक्त करने का मौलिक साधन वाणी है। इसीलिए वही प्रकृत है।

आर्य-साहित्य में उन वर्णों के संगठन के तीन रूप माने गये हैं—ऋक्—पद्यात्मक, यजुः—गद्यात्मक और साम—संगीतात्मक। **वैदिकाश्च द्विविधाः प्रगीता अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि, अप्रगीताश्चद्विविधाःछन्दोवद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः द्वितीया यजूंषि। (सर्वदर्शनसंग्रह)** यही आर्य-वाणी की आरम्भिक उच्चारण-शैली है, जो दूसरों के आस्वाद के लिए श्रव्य कही जाती है।

काव्य को इन आरम्भिक तीन भागों में विभक्त कर लेने पर उसकी आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता का हम स्पष्ट आभास पा जाते हैं, और यही वाणी—जैसा कि हम ऊपर कह आ` हैं—आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।

वाणी के द्वारा अनुभूतियों को व्यक्त करने के बाद एक अन्य प्रकार का भी प्रयत्न आरम्भ होता है। दूर रहनेवाले, चाहे यह देश-काल के

कारण से ही हो, केवल व्यष्टि का आश्रय लेनेवाली उच्चारणात्मक वाणी का आनन्द नहीं ले सकते। इसलिए वह व्यक्ति-द्वारा प्रकट हुई आत्मा-नुभूति सामूहिक या समष्टि-भाव से विस्तार करने का प्रयत्न करती है। और तब चित्र, लिपि, तक्षण इत्यादि सम्बन्धी अपनी बाह्य सत्ता को बनाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है। आगमों के अनुशीलन से, कला को अन्य रूप से भी बताया जा सकता है। शैवागमों में ३६ तत्त्व माने गये हैं, उनमें कला भी एक तत्त्व है। ईश्वर की कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप कला, विद्या, राग, नियति और काल माने जाते हैं। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। कला संकुचित कर्तृत्व-शक्ति कही जाती है। भोजराज ने भी अपने तत्त्व-प्रकाश में कहा है—**व्यञ्जयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा।**

शिव-सूत्र-विमर्शिनी में क्षेमराज ने कला के सम्बन्ध में अपना विचार यों व्यक्त किया है—

कलयति स्व-स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला-व्यापारः। इस पर टिप्पणी है—

कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला अर्थात्—नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।

स्व को कलन करने का उपयोग, आत्म-अनुभूति की व्यंजना में प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया है—अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य-जगत् में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा हो। यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल,

अर्थात् ऐसा नहीं। यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक-विधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित हैं जिनकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं। कला को तो शास्त्रों में उपविद्या माना है। फिर उसका साहित्य में या आत्मानुभूति में कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं, अनुभूति के लिए शब्द-विन्यास-कौशल तथा छन्द आदि भी अत्यन्त आवश्यक नहीं।

व्यञ्जना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं। और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं, और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए; किन्तु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशल-विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।

हाँ, फिर एक प्रश्न स्वयं खड़ा होता है कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की?

काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण

होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके?

किन्तु यह बात तो नहीं है। सोलह मात्रा के छन्द में अन्तर्भावों का प्रकट करने की जो विदग्धता उन्होंने दिखाई है, वह कविता-संसार में विरली है। फिर क्या कारण है कि रामचन्द्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मनुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के हृदय के उतने समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलाएँ। रामचन्द्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबन्ध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परम्परा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु-मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।

दोनों कवियों के शब्द-विन्यास-कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।

इसीलिए, अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी कि अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शकों के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयों में

अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। वह भाव-साम्य का कारण होने से लौट कर अपने कवि की अनुभूतिवाली मौलिक वस्तु की सहानुभूति-मात्र ही रह जाती है। इसलिए व्यापकता आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।

रहस्यवाद

काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना है, और इसीलिए भारत के लिए वह बाहर की वस्तु है। किन्तु शाम देश के यहूदी, जिनके पैगम्बर मूसा इत्यादि थे, सिद्धान्त में ईश्वर को उपास्य और मनुष्य को जिहोवा (यहूदियों के ईश्वर) का उपासक अथवा दास मानते थे। सेमेटिक धर्म में मनुष्य की ईश्वर से समता करना अपराध समझा गया है। क्राइस्ट ने ईश्वर का पुत्र होने की ही घोषणा की थी, परन्तु मनुष्य का ईश्वर से यह सम्बन्ध जिहोवा के उपासकों ने सहन नहीं किया और उसे सूली पर चढ़वा दिया*।

---

*Therefore the Jews sought the more to kill him, because he not only had broken the Sabbath, but said also that God was his Father, making himself equal with God, (St. John, 5). I and my Father are one. Then the jews took up stones again to stone him. (St. John, 10).

पिछले काल में यहूदियों के अनुयायी मुसलमानों ने भी 'अनलहक' कहने पर मंसूर को उसी पथ का पथिक बनाया। सरमद का सर काटा गया। सेमेटिक धर्मभावना के विरुद्ध चलनेवाले ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्मभावना से अधिक परिचित थे।

सूफी-सम्प्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचारधारा है जो अरब और सिन्ध का परस्पर सम्पर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि सूफी धर्म का पूर्ण विकास तो पिछले काल में आर्यों की बस्ती ईरान में हुआ, फिर भी उसके सब आचार इस्लाम के अनुसार ही हैं। उनके तौहीद में चुनाव है एक का, अन्य देवताओं में से, न कि सम्पूर्ण अद्वैत का। तौहीद का अद्वैत से कोई दार्शनिक सम्बन्ध नहीं। उसमें जहाँ कहीं पुनर्जन्म या आत्मा के दार्शनिक तत्त्व का आभास है, वह भारतीय रहस्य-वाद का अनुकरण मात्र है, क्योंकि शामी धर्मों के भीतर अद्वैत कल्पना दुर्लभ नहीं, त्याज्य भी है।

कुछ लोगों का कहना है मेसोपोटामिया या बाबिलन के बाल, ईस्टर-प्रभृति देवताओं के मन्दिरों में रहनेवाली देवदासियाँ ही धार्मिक प्रेम का उद्गम हैं और वहीं से धर्म और प्रेम का मिश्रण, उपासना में कामोपभोग इत्यादि अनाचार का आरम्भ हुआ तथा यह प्रेम ईसाई-धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव-धर्म को मिला। किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है—**कामस्तदग्ने समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्**। यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' शब्द की महत्ता कम हो गयी। सम्भवतः विवेकवादियों की आदर्श-भावना के कारण, इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेती

है। इसी वैदिक काम की, आगम शास्त्रों में, कामकला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली थी। पीछे बारहवीं शताब्दी के सूफी इब्न अरबी ने भी अपने सिद्धान्तों में इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है कि मनुष्य ने जितने प्रकार के देवताओं की पूजा का समारम्भ किया है, उनमें काम ही सब से मुख्य है। यह काम ही ईश्वर की अभिव्यक्ति का सब से बड़ा व्यापक रूप है।*

देवदासियों का प्रचार दक्षिण के मन्दिरों में वर्तमान है और उत्तरीय भारत में ईसवी सन् से कई सौ बरस पहले शिव, स्कन्द, सरस्वती इत्यादि देवताओं के मन्दिर नगर के किस भाग में होते थे, इसका उल्लेख चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है और सरस्वती का मन्दिर तो यात्रागोष्ठी तथा संगीत आदि कला-सम्बन्धी समाजों के लिए प्रसिद्ध था। देवदासियाँ मन्दिरों में रहती थीं, परन्तु वे उस देवप्रतिमा के विशेष अन्तर्निहित भावों को कला के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए ही रहती थीं। उनमें प्रेम-पुजारिनों का होना असम्भव नहीं था। सूफी रबिया से पहले ही दक्षिण भारत की देवदासी अन्दल ने जिस कृष्ण-प्रेम का संगीत गाया था, उसकी आविष्कर्त्री अन्दल को ही मान लेने में मुझे तो सन्देह ही है। कृष्ण-प्रेम उस मन्दिर का सामूहिक भाव था, जिसकी अनुभूति अन्दल ने भी की। ऐतिहासिक अनुक्रम के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फारस में जिस सूफी-धर्म का विकास हुआ था, उस पर काश्मीर के साधकों का

---

*Of the Gods man has conceived and worshipped, Ibn Arabi is of opinion that Desire is the greatest and most vital. It is the greatest of the universal forms of his self-expression. (M. Ziyauddin in "Vishwabharti.")

बहुत कुछ प्रभाव था। यों तो एक दूसरे के साथ सम्पर्क में आने पर विचारों का थोड़ा-बहुत आदान-प्रदान होता ही है; किन्तु भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है, यह कहना वैसा ही है जैसा वेदों को 'सुमेरियन डॉक्मेण्ट' सिद्ध करने का प्रयास।

शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्यवाला रहस्य-सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा काम-कला की सौन्दर्य-उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधना-प्रणालियाँ हैं, जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने संघों में प्रचार किया था।

भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों के मन में एक तरह की झुँझलाहट है। रहस्यवाद के आनन्द-पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है। इसलिए वे इस बात को स्वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनन्द है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है। आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनन्द और उसके पथ के लिए जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्तु कह कर स्वीकार करने में बाधक है। किन्तु प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे; और आज के भी अन्यदेशीय तरुण आर्य-संघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्द-भावना, प्रियकल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीर्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, यह सेमेटिक है, कह कर सन्तोष कर लिया जाता है।

कदाचित् इन आलोचकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आरम्भिक वैदिक-काल में प्रकृतिपूजा अथवा बहुदेव-उपासना के युग में ही, जब **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित

हो रहा था, तभी आत्मवाद की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई। इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे। एकेश्वरवाद के वरुण और आत्मवाद के इन्द्र प्रतिनिधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेकपक्ष के आदर्श थे। महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्द के प्रचारक थे। वरुण को देवताओं के अधिपति-पद से हटना पड़ा, इन्द्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनन्द की विचारधारा उत्पन्न की। फिर तो इन्द्र ही देवराज-पद पर प्रतिष्ठित हुए। वैदिक-साहित्य में आत्मवाद के प्रचारक इन्द्र की जैसी चर्चा है, उर्वशी आदि अप्सराओं का जो प्रसंग है, वह उनके आनन्द के अनुकूल ही है। बाहरी याज्ञिक क्रिया-कलापों के रहते हुए भी वैदिक आर्यों के हृदय में आत्मवाद और एकेश्वरवाद की दोनों दार्शनिक विचारधाराएँ अपनी उपयोगिता में संघर्ष करने लगीं। सप्तसिन्धु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा का अधिक स्वागत किया। क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे। और वरुण यद्यपि आर्यों की उपासना में गौण रूप से सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुर के रूप में असीरिया आदि अन्य देशों में हुई। आत्मा में आनन्द-भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। उधर असुर के अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेक के प्रतिष्ठापक हुए। भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया और एकात्मवाद के प्रतिष्ठापक इन्द्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पनाएँ हुईं। किन्तु इस आत्मवाद और यज्ञवाली विचार-धारा की वैदिक आर्यों में प्रधानता हो जाने पर भी, कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे। वैदिक-धर्म की प्रधान धारा में, जिसके अन्तर में आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक क्रियाओं का उल्लास था, व्रात्यों के लिए स्थान नहीं रहा। उन व्रात्यों ने अत्यन्त प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप में उपासना का क्रम प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार

पर नये-नये तर्कों की उद्भावना की। फिर तो आत्मवाद के अनुयायियों में भी अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्डों की आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगीं। उन्होंने स्वाध्याय-मण्डल स्थापित किये। भारतवर्ष का राजनैतिक विभाजन भी वैदिक-काल के बाद इन्हीं दो तरह के दार्शनिक धर्मों के आधार पर हुआ।

वृष्णि-संघ व्रज में और मगध के व्रात्य और अयाज्ञिक आर्यबुद्धिवाद के आधार पर नये-नये दर्शनों की स्थापना करने लगे। इन्हीं लोगों के उत्तराधिकारी वे तीर्थंकर लोग थे जिन्होंने ईसा से हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक के तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया और दुःख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया। दुःखनिवृत्ति दुःखवाद का ही परिणाम है। फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न दिगम्बर, पानी गरम कर के पीने वाले और मुँह पर कपड़ा बाँध कर चलनेवाले हुए। इन लोगों के आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे। वैदिक-काल के बाद इन व्रात्यों के संघ किस-किस तरह का प्रचार करते घूमते थे, उन सब का उल्लेख तो नहीं मिलता; किन्तु बुद्ध के जिन प्रतिद्वन्द्वी मस्करी गोशाल, अजित केश-कम्बली, नाथपुत्र, संजय वेलट्ठिपुत्र, पूरन कस्सप आदि तीर्थंकरों का नाम मिलता है, वे प्रायः दुःखातिरेकवादी, आत्मवाद में आस्था न रखनेवाले तथा बाह्य उपासना में चैत्यपूजक थे। दुःखवाद जिस मननशैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर, तर्कों के आश्रय में बढ़ती ही रही। अनात्मवाद की प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए। फलतः पिछले काल में भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ। जिन-जिन लोगों में आत्मविश्वास नहीं था, उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई।

प्रणतिवाली शरण खोजने की कामना--बुद्धिवाद की एक धारा—प्राचीन एकेश्वरवाद के आधार पर ईश्वरभक्ति के स्वरूप में बढ़ी और इन लोगों ने अपने लिए अवलम्ब खोजने में नये-नये देवताओं और शक्तियों की उपासना प्रचलित की। हाँ, आनन्दवादवाली मुख्य अद्वैतधारा में भक्ति का विकास, एक दूसरे ही रूप में हो चुका था, जिसके सम्बन्ध में आगे चलकर कहा जायगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक-साहित्य की प्रधान धारा में उसकी याज्ञिक क्रियाओं की आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगी थीं और व्रात्य-दर्शनों की प्रचुरता के युग में भी आनन्द का सिद्धान्त संहिता के बाद श्रुति-परम्परा में आरण्यक-स्वाध्याय-मण्डलों में प्रचलित रहा। तैत्तिरीय में एक कथा है कि भृगु जब अपने पिता अथवा गुरु वरुण के पास आत्म-उपदेश के लिये गये तो उन्होंने बार-बार तप करने की ही शिक्षा दी और बार-बार तप कर के भी भृगु सन्तुष्ट न हुए और फिर आनन्द-सिद्धान्त की उपलब्धि कर के ही उन्हें परितोष हुआ। विवेक और विज्ञान से भी आनन्द को अधिक महत्त्व देनेवाले भारतीय ऋषि अपने सिद्धान्त का परम्परा में प्रचार करते ही रहे।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। (तैत्ति० २।५)

उपनिषद् में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गयी थी, जो आनन्द-सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य व्रात्यों में तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हो रहा था, वहाँ प्रधान वैदिक-धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द का सिद्धान्त भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
(मुण्डक०)

नैषा तर्केण मतिरपनेया। (कठ०)

आनन्दमय आत्मा की उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कों से नहीं हो सकती।

इन लोगों ने अपने विचारों के अनुयायी राष्ट्रों में परिषदें स्थापित की थीं और व्रात्य-संघों के सदृश ही इनके भी स्वाध्यायमंडल थे, जो व्रात्य-संघों से पीछे के नहीं अपितु पहले के थे। हाँ, इन लोगों ने भी बुद्धिवाद का अपने लिए उपयोग किया था ; किन्तु उसे वे अविद्या कहते थे, क्योंकि वह कर्म और विज्ञान की उन्नति करती है और नानात्व को बताती है। मुख्यत: तो वे अद्वैत और आनन्द के ही उपासक रहे। विज्ञानमय याज्ञिक क्रिया-कलापों से वे ऊपर उठ चुके थे। कठ, पाञ्चाल, काशी और कोशल में तो उनकी परिषदें थीं ही, किन्तु मगध की पूर्वीय सीमा पर भी उसके दुःख और अनात्मवादी राष्ट्रों के एक छोर पर विदेहों की बस्ती थी, जो सम्पूर्ण अद्वैतवादी थे। ब्राह्मण-ग्रन्थ में सदानीरा के उस पार यज्ञ की अग्नि न जाने की जो कथा है उसका रहस्य इन्हीं मगध के व्रात्य-संघों से सम्बन्ध रखता था। किन्तु माधव विदेह ने सदानीरा के पार अपने मुख में जिस अग्नि को ले जाकर स्थापित किया था, वह विदेहों का प्राचीन आत्मवाद ही था। इन परिषदों में और स्वाध्याय-मण्डलों में वैदिक मन्त्रकाल के उत्तराधिकारी ऋषियों ने संकल्पात्मक ढंग से विचार किया, सिद्धान्त बनाये और साधना-पद्धति भी स्थिर की। उनके सामने ये सब प्रश्न आये:—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैत युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥

(केनोपनिषद्)

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामिहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत्)

इन प्रश्नों पर उनके संवाद अनुभवगम्य आत्मा को संकल्पात्मक रूप से निर्देशन करने के लिए होते थे। इस तरह के विचारों का सूत्रपात शुक्ल यजुर्वेद के ३९ और ४० अध्यायों में ही हो चुका था। उपनिषद् उसी ढंग से आत्मा और अद्वैत के सम्बन्ध में संकलपात्मक विचार कर रहे थे, यहाँ तक कि श्रुतियाँ संकल्पात्मक काव्यमय ही थीं और इसीलिए वे लोग 'कविर्मनीषी' में भेद नहीं मानते थे। किन्तु व्रात्य-संघों के बाह्य आदर्शवाद से, विवेक और बुद्धिवाद से भारतीय हृदय बहुत कुछ अभिभूत हो रहा था; इसलिए इन आनन्दवादियों की साधना-प्रणाली कुछ-कुछ गुप्त और रहस्यात्मक होती थी।

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्ठम् ॥
वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥
(श्वेताश्वतर०)

उनकी साधन-पद्धतियों का उल्लेख छान्दोग्य-आदि उपनिषदों में प्रचुरता से है। ये लोग अपनी शिष्यमण्डली में विशेष प्रकार की गुप्त साधना-प्रणालियों के प्रवर्त्तक थे। बौद्ध-साहित्य में जिस तरह के साधनों का विवरण मिलता है, वे बहुत-कुछ इन ऋषियों और इनके उपनिषदों के अनुकरण-मात्र थे, फिर भी वे अपने ढंग के बुद्धिवादी थे। और वे

उपनिषदों के **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्** (कठ०) वाले योग का अपने ढंग से अनात्मवाद के साधन के लिए उपयोग करने लगे।

श्रुतियों का और निगम का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने आगमों की अवतरणा की और ये आत्मवादी आनन्दमय कोष की खोज में लगे ही रहे। आनन्द का स्वभाव ही उल्लास है, इसलिए साधना-प्रणाली में उसकी मात्रा उपेक्षित न रह सकी। कल्पना और साधना के दोनों पक्ष अपनी-अपनी उन्नति करने लगे। कल्पना विचार करती थी, साधना उसे व्यवहार्य बनाती थी। आगम के अनुयायियों ने निगम के आनन्दवाद का अनुसरण किया, विचारों में भी और क्रियाओं में भी। निगम ने कहा था—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥

आगमवादियों ने दोहराया—

आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना।

आगम के टीकाकारों ने भी इस अद्वैत आनन्द को अच्छी तरह पल्लवित किया—

विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति (क्षेमराज)

हाँ, इन सिद्धों ने आनन्दरस की साधना में और विचारों में प्रकारान्तर भी उपस्थित किया। अद्वैत को समझने के लिए—

आत्मैवेदमग्र आसीत्...स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इम वात्मानं द्विधापातयत्।

इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति का अनुकरण कर के समता के आधार पर भक्ति की और मित्र-प्रणय की-सी मधुर कल्पना भी की। क्षेमराज ने एक प्राचीन उद्धरण दिया—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ।।

यह भक्ति का आरम्भिक स्वरूप आगमों में अद्वैत की भूमिका पर ही सुगठित हुआ। उनकी कल्पना निराली थी—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः ।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः ।।

यह भक्ति भेदभाव, द्वैत, जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता को नष्ट करनेवाली थी। ऐसी ही भक्ति के लिए माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के गुरु उत्पल ने कहा है—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम् ।

अद्वैतवाद के इस नवीन विकास में प्रेमभक्ति की योजना तैत्तिरीय आदि श्रुतियों के ही आधार पर हुई थी। फिर तो सौन्दर्य-भावना भी स्फुट हो चली—

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम् ।

(अष्टावक्रगीता ४।३)

इन आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द-मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति में प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्य-सम्प्रदाय कहते थे। शिवसूत्रविमर्शिनी की प्रस्तावना में क्षेमराज ने लिखा है :—

द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि

रहस्य-सम्प्रदाय जिस में लुप्त न हो, इसलिए शिवसूत्रों की महादेव-गिरि से प्रतिलिपि की गयी। द्वैतदर्शनों की प्रचुरता थी। रहस्य-सम्प्रदाय अद्वैतवादी था। इन लोगों ने पाशुपत योग की प्राचीन साधना-पद्धति के साथ-साथ आनन्द की योजना करने के लिए काम-उपासना-प्रणाली भी दृष्टान्त के रूप में स्वीकृत की। उसके लिए भी श्रुति का आधार लिया गया।

तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् (बृहदारण्यक)। उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते।

आत्मरतिरात्मक्रीड़ा आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वाराड् भवति।

इन छान्दोग्य आदि श्रुतियों के प्रकाश में यह रति-प्रीति--अद्वैतमूला भक्ति रहस्यवादियों में निरन्तर प्राञ्जल होती गयी। इस दार्शनिक सत्य को व्यावहारिक रूप देने में किसी विशेष अनाचार की आवश्यकता न थी। संसार को मिथ्या मानकर असम्भव कल्पना के पीछे भटकना नहीं पड़ता था। दुःखवाद से उत्पन्न संन्यास और संसार से विराग की आवश्यकता न थी। अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को आत्मा का अभिन्न अंग शैवागमों में मान लिया गया था। फिर तो सहज आनन्द की कल्पना भी इन लोगों ने की। श्रुति इसी कोटि के साधकों के लिए पहले ही कह चुकी थी--

या बुद्धयते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविः यत्पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो...।

इसी का अनुकरण है--

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रासमाधिस्थितिः।

(शांकरी मानसपूजा)

सौन्दर्यलहरी भी उसी स्वर में कहती है--

सपर्या पर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्। (२७)

इन साधकों में जगत् और अन्तरात्मा की व्यावहारिक अद्वयता में आनन्द की सहज भावना विकसित हुई। वे कहते हैं--

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन बिभृषे॥

(सौन्दर्यलहरी, ३५)

किसी काश्मीरी भक्त कवि ने कहा है—

तत्तदिन्द्रियसुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्निव भवेयमुन्मदः॥

इसमें इन्द्रियों के मुख से अर्चन-रस का आसव पीने की जो कल्पना है, वह आनन्द की सहज भावना से ओतप्रोत है।

आगमानुयायी स्पन्दशास्त्र के अनुसार प्रत्येक भावना में, प्रत्येक अवस्था में वह आत्मानन्द प्रतिष्ठित है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोति परामृशन्।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥

और उनकी अद्वैत साधना के अनुसार सब विषयों में—इन्द्रियों के अर्थों में निरूपण करने पर कहीं भी अशिव, अमंगल, निरानन्द नहीं—

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम्।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित्॥

जिस मन को बुद्धिवादी **मनोदुर्निग्रहं चलम्** समझ कर ब्रह्म-पथ में विमूढ़ हो जाते हैं उसके लिए आनन्द के उपासकों के पास सरल उपाय था। वे कहते हैं—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः॥

मन चल कर जायगा कहाँ? बाहर-भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा स्थान कौन है?

ये विवेक और आनन्द की विशुद्ध धाराएँ अपनी परिणति में अनात्म और दुःखमय कर्मवादी बौद्ध हीनयान-सम्प्रदाय तथा दूसरी ओर आत्म-वादी आनन्दमय रहस्य-सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हुईं। इसके अनन्तर मिश्र विचारधाराओं की सृष्टि होने लगी। अनात्मवाद से विचलित हो कर बुद्ध में ही सत्ता मान कर बौद्धों का एक दल महायान का अनुयायी बना। शुद्ध बुद्धिवाद के बाद इसमें कर्मकाण्डात्मक उपासना और देवताओं

की कल्पना भी सम्मिलित हो चली थी। लोकनाथ-आदि देवी-देवताओं की उपासना कोरा शून्यवाद ही नहीं रह गयी। तत्कालीन साधारण आर्य जनता में प्रचलित वैदिक बहुदेवपूजा से शून्यवाद का यह समन्वय ही महायान-सम्प्रदाय था। और बौद्धों की ही तरह वैदिक धर्मानुयायियों की ओर से जो समन्वयात्मक प्रयत्न हुआ, उसी ने ठीक महायान की ही तरह पौराणिक-धर्म की सृष्टि की। इस पौराणिक-धर्म के युग में विवेकवाद का सब से बड़ा प्रतीक रामचन्द्र के रूप में अवतरित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादा में और दुःखसहिष्णुता में महान् रहे। किन्तु पौराणिक-युग का सब से बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्ण के पूर्णावतार का निरूपण था। इनमें गीता का पक्ष जैसा बुद्धिवादी था वैसा ही व्रजलीला और द्वारका का ऐश्वर्यभोग आनन्द से सम्बद्ध था।

जैसे वैदिक-काल के इन्द्र ने वरुण को हटा कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली, उसी तरह इन्द्र का प्रत्याख्यान कर के कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई। किन्तु शोधकों की तरह यह मानने को मैं प्रस्तुत नहीं कि वैदिक इन्द्र के आधार पर पौराणिक कृष्ण की कल्पना खड़ी की गयी। कृष्ण अपने युग के पुरुषोत्तम थे; उनका व्यक्तित्व बुद्धिवाद और आनन्द का समन्वय था। इन्द्र की ही तरह अहं या आत्मवाद का समर्थन करने पर भी कृष्ण की उपासना में समरसता नहीं, अपितु द्वैतभावना और समर्पण ही अधिक रहा। मिलन और आनन्द से अधिक वह उपासना विरहोन्मुख ही बनी रही। और होनी भी चाहिए, क्योंकि इसका सम्पूर्ण उपक्रम जिन पुराण-वादियों के हाथ में था, वे बुद्धिवाद से अभिभूत थे। सम्भवतः इसीलिए यह प्रेममूलक रहस्यवाद विरहकल्पना में अधिक प्रवीण हुआ। पौराणिक धर्म का दार्शनिक स्वरूप हुआ मायावाद। मायावाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवाद के मिश्र उपकरणों से संगठित हुआ था। इसीलिए जगत् को मिथ्या––दुःखमय मान कर सच्चिदानन्द की जगत् से परे कल्पना हुई। विश्वात्मवादी शिवाद्वैत की भी कुछ बातें इसमें ली गयीं। आनन्द

और माया उन्हीं की देन थी। बुद्धिवाद को यद्यपि आगमवादियों की तरह अविद्या मान लिया था——

अख्यात्युल्लसितेषु भिन्नेषु भावेषु बुद्धिरित्युच्यते

——तथापि विवेक से आत्मनिरूपण के लिए मायावाद के प्रवर्त्तक श्री गौड़पाद ने मनोनिग्रह का उपाय बताया था——

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्। (माण्डूक्यकारिका ४३)

काम-भोग से निवृत्त होने के लिए दुःख-भावना करने का ही उनका उपदेश नहीं था। किन्तु वे मानसिक सुख को भी हेय समझते थे——

नास्वादयेत्सुखं तत्र निस्संगः प्रज्ञया भवेत्।

(माण्डूक्यकारिका ४५)

आनन्द सत्-चित् के साथ सम्मिलित था, परन्तु है यह प्रज्ञावाद——बुद्धि की विकल्पना। मायातत्त्व को आगम से लेकर उसे रूप ही दूसरा दिया गया। बुद्धिवाद की दर्शनों में प्रधानता थी, फिर तो आचार्य ने बौद्धिक शून्यवाद में जिस पाण्डित्य के बल पर आत्मवाद की प्रतिष्ठा की, वह पहले के लोगों से भी छिपा नहीं रहा। कहा भी गया——

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव हि।

महायान और पौराणिक-धर्म ने साथ-साथ बौद्ध-उपासक-सम्प्रदाय को विभक्त कर लिया था। फिर तो बौद्धमत शून्य से ऊब कर सहज आनन्द की खोज में लगा। अधिकांश बौद्ध ऊपर कहे हुए कृष्णसम्प्रदाय की द्वैत-मूला भक्ति में सम्मिलित हुए और दूसरा अंश आगमों का अनुयायी बना। उस समय आगमों में दो विचार प्रधान थे। कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे और वे शैवागमवादी कहलाये। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्ति-तरंग में लीन होने की साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए। उस काल की भारतीय साधना-पद्धति व्यक्तिगत उत्कर्ष में अधिक प्रयुक्त हो रही थी। दक्षिण के श्रीपर्वत से जिस मन्त्रवाद का बौद्धों में प्रचार हो

रहा था, वह धीरे-धीरे वज्रयान में किस तरह परिणत हुआ और आगम-सम्प्रदाय में घुस कर अनात्मवादी बौद्धों ने आत्मा की अवहेलना करके भी वैदिक अम्बिका-आदि देवियों के अनुकरण में कितनी शक्तियों की सृष्टि की और कैसी रहस्यपूर्ण साधना-पद्धतियाँ प्रचलित कीं, उसका विवरण देने के लिए यहाँ अवसर नहीं। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उन्होंने बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिरत्न के स्थान पर कामिनी, काम और सुरा को प्रतिष्ठित किया। धारणी मन्त्रों की योजना की। पीछे ये मन्त्रात्मक भावनाएँ प्रतिमा बनने लगीं। मन्त्रों में जिन विचारधारणाओं का संकेत था, वे देवता का रूप धर कर व्यक्त हुईं। परोक्ष-पूजा-पद्धति की प्रचुरता हुई।

पौराणिक-धर्म ने इसी ढंग पर देववाद का प्रचार किया। उपनिषदों के षोडशकला-पुरुष के प्रतिनिधि बने सोलह कलावाले पूर्ण अवतार श्रीकृष्ण-चन्द्र। सुन्दर नर-रूप की यह पराकाष्ठा थी। नारी-मूर्त्ति में सुन्दरी की, ललिता की—सौन्दर्य-प्रतिमा के अतिरिक्त सौन्दर्य-भावना के लिए अन्य उपाय भी माने गये। 'नरपति-जयचर्या' स्वरशास्त्र का एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें मन की भावना के लिए बताया गया है—

गौरांगीं नवयौवनां शशिमुखीं ताम्बूलगर्भाननां
मुक्तामण्डनशुभ्रमाल्यवसनां श्रीखण्डचर्चांकिताम्।
दृष्ट्वा कामिनीं स्वयमिमां ब्राह्मीं पुरो भावये-
दन्तश्चिन्तयतो जनस्य मनसि त्रैलोक्यमुन्मीलिनीम्॥

यह सौन्दर्य-धारणा हृदय में त्रैलोक्य का उन्मीलन करनेवाली है। यहाँ समझ लेना चाहिए कि भारत में सौन्दर्य-आलम्बन नर और नारी की प्रतिच्छवि मन को महाशक्तिशाली बनाने तथा उन्नत करने के उपाय में उपासना के स्वरूप में व्यवहृत होने लगी थी।

बौद्धों के उत्तराधिकारी भी शून्यवाद से घबरा कर अनेक प्रकार की मन्त्रसाधना में लगे थे, आर्यमञ्जु श्रीमूलकल्प देखने से यह प्रकट होता

है। फिर शैवागमों में जो अनुकूल अंश थे, उन्हें भी अपनाने से ये न रुके। योगाचार तथा अन्य गुप्त साधनाओं वाला बौद्ध-सम्प्रदाय आनन्द की खोज में आगमवादियों से मिला। विचारों में—

सर्व क्षणिकं सर्वं दुःखं सर्वमनात्मम्।

पर आनन्दरूपममृतं यद्विभांति ने विजय प्राप्त की। परन्तु इनके सम्पर्क में आने पर शैवागमों का विश्वात्मवाद वाला शाम्भव सिद्धान्त भी व्यक्तिगत संकुचित अहं में सीमित होने लगा। इस संकुचित आत्मवाद को आगमों में निन्दनीय और अपूर्ण अहंता कहते थे; किन्तु बौद्धों ने उस सरल अद्वैतबोध को व्यक्तिगत आत्मवाद की ओर झुका कर शरीर को वज्र की तरह अप्रतिहतगति-शाली बनाने के लिए तथा साम्पत्तिक स्वतंत्रता के लिए रसायन बनाने में लगाया। बौद्ध विज्ञानवादी थे। पूर्व के ये विज्ञान-वादी ठीक उसी तरह व्यक्तिगत स्वार्थों के उपासक रहे, जैसे वर्तमान पश्चिम अपनी वैज्ञानिक साधना में सामूहिक स्वार्थों का भयंकर उपासक है। आगमवादी नाथ-सम्प्रदाय के पास हठयोग की क्रियाएँ थीं और उत्तरीय श्रीपर्वत बना काम रूप। फिर तो चौरासी सिद्धों की अवतारणा हुई। हाँ, इन दोनों की परम्परा प्रायः एक है, किन्तु आलम्बन में भेद है। एक शून्य कह कर भी निरञ्जन में लीन होना चाहता है और दूसरा ईश्वरवादी होने पर भी शून्य को भूमिका-मात्र मान लेता है। रहस्यवाद इन कई तरह की धाराओं में उपासना का केन्द्र बना रहा। जहाँ बाह्य आडम्बर के साथ उपासना थी, वहीं भीतर सिद्धान्त में अद्वैत-भावना रसस्यवाद की सूत्रधारिणी थी। इस रहस्य-भावना में वैदिक-काल से ही इन्द्र के अनुकरण में अद्वैत की प्रतिष्ठा थी। विचारों का जो अनुक्रम ऊपर दिया गया है, उसी तरह वैदिक-काल से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की परम्परा भी मिलती है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अड़तालीसवें सूक्त तथा एक सौ उन्नीसवें सूक्त में इन्द्र की जो आत्मस्तुति है, वह अहंभावना तथा अद्वैतभावना से

प्रेरित सिद्ध होती है। **अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शाश्वतः** तथा **अहमस्मि महामहो** इत्यादि उक्तियाँ रहस्यवाद की वैदिक भावनाएँ हैं। इस छोटे-से निबन्ध में वैदिक वाङमय की सब रहस्यमयी उक्तियों का संकलन करना सम्भव नहीं; किन्तु जो लोग यह सोचते हैं कि आवेश में अटपटी वाणी कहनेवाले शामी पैगम्बर ही थे, वे कदाचित् यह नहीं समझ सके कि वैदिक ऋषि भी गुह्य बातों को चमत्कारपूर्ण सांकेतिक भाषा में कहते थे। **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्** तथा **तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारम्।** इत्यादि मन्त्र इसी तरह के हैं।

वेदों, उपनिषदों और आगमों में यह रहस्यमयी आनन्द-साधना की परम्परा के ही उल्लेख हैं। अपनी साधना का अधिकार उन्होंने कम नहीं समझा था। वैदिक ऋषि भी अपने जोम में कह गये हैं—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥

(कठ० १।२।२१)

आज तुलसी साहब को **जिन जाना तिन जाना नाहीं** इत्यादि को देख कर इसे एक बार ही शाम देश से आयी हुई समझ लेने का जिन्हें आग्रह हो, उनकी तो बात ही दूसरी है; किन्तु केनोपनिषत् के **यस्यामतं तस्य मतं यस्य न सवेद सः** का ही अनुकरण यह नहीं है, यह कहना सत्य से दूर होगा। **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र** इत्यादि श्रुति में बाहर और भीतर की पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का जो प्रतिपादन किया गया है, सन्त-मत में उसी का अनुकरण किया गया है।

यह भी कहा जाता है कि यहाँ उपासना, कर्म के साथ ज्ञान की धारा विशुद्ध रही और उसमें आराध्य से मिलने के लिए कई कक्ष नहीं बनाये गये। किन्तु छान्दोग्य में जिस शून्य आकाश का उल्लेख दहरोपासना में हुआ है, उसी से बौद्धों के शून्य और आगमों की शून्य-भूमिका का सम्बन्ध है।

फिर कबीर की **शून्य महलिया** शाम देश की सौगात कैसे कही जा सकती है ?

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः (छान्दोग्य०)

तथा--

पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् ।

—इत्यादि श्रुतियों में नीवारशूकवत् तन्वी शिखा के मध्य में परमात्मा का जो स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वह मन्दिर या महल कहीं विदेश से नहीं आया है। आगमों में तो इस रहस्य-भावना का उल्लेख है ही, जिसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

श्रीकृष्ण को आलम्बन मान कर द्वैत-उपासकों ने जिस आनन्द और प्रेम की सृष्टि की, उसमें विरह और दुःख आवश्यक था। द्वैतमूलक उपासना के बुद्धिवादी प्रवर्त्तक भागवतों ने गोपियों में जिस विरह की स्थापना की, वह परकीय प्रेम के कारण दुःख के समीप अधिक हो सका और उसका उल्लेख भागवत में विरल नहीं है। इस प्रेम में पर का दार्शनिक मूल है स्व को अस्वीकार करना। फिर तो बृहदारण्यक के **यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति** के अनुसार वह प्रेम विरह-सापेक्ष ही होगा। किन्तु सिद्धों ने आगम के बाद रहस्यवाद की धारा अपनी प्रचलित भाषा में, जिसे वे सन्ध्या-भाषा कहते थे, अविच्छिन्न रक्खी और वे सहज आनन्द के उपासक बने रहे।

अनुभव सहज मा मोल रे जोई।
चोकोट्टिविभुका जइसो तइसो होई।।
जइसने आछिले स वइसन अच्छ।
सहज पथिक जोई भान्ति माहो वास।। **(नारोपा)**

वे शैवागम की अनुकृति ही नहीं, शिव की योगेश्वर-मूर्त्ति की भावना भी आरोपित करते थे।

नाडि शक्ति दिर धरिय खदे।
अनहा डमरू बाजए वीर नादे॥
कहृव कपाली योगी पइठ अचारे।
देह न अरी विहरए एकारें॥ (कण्हपा)

इन आगमानुयायी सिद्धों में आत्म-अनुभूति स्वापेक्ष थी। परोक्ष विरह उनके समीप न था। वह प्रेम-कथा स्वपर्यवसित थी। उस प्रेम-रूपक की एक कल्पना देखिए—

ऊँचा-ऊँचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहिण सबरी गिबत गुञ्जरी माली॥
उमत सबरो पागल शबरो माकर गुली गुहाउर।
तोहोरि णिय धरिणी णामे सहज सुन्दरी॥ (शबरपा)

ऊपरवाला पद्य शबरी रागिनी में है। सम्भवतः शबरी रागिनी आसावरी का पहला नाम है। सिद्ध लोग अपनी साधना में संगीत की योजना कर चुके थे। नादानुसन्धान की आगमोक्त साधना के आधार पर बाह्य नाद का भी इनकी साधना में विकास हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है। अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः सिद्धों ने आनन्द के लिए संगीत को भी अपनी उपासना में मिला कर जिस भारतीय संगीत में योग दिया है, उसमें भरत मुनि के अनुसार पहले ही से नटराज के संगीतमय नृत्य का मूल था। सिद्धों की परम्परा में सम्भवतः बैजू बावरा आदि संगीत-नायक थे, जिन्होंने अपनी ध्रुपदों में योग का वर्णन किया है।

इन सिद्धों ने ब्रह्मानन्द का भी परिचय प्राप्त किया था। सिद्ध भुसुक कहते हैं—

विरमानन्द बिलक्षण सूध जो येथू बूझै सो येथु बूध।
भुसुक भणइ मइ बूझिय मेले सहजानन्द महासुह लेलें॥

इन लोगों ने भी वेद, पुराण और आगमों का कबीर की तरह तिरस्कार

किया है। कदाचित् पिछले काल के सन्तों ने इन सिद्धों का ही अनुकरण किया है।

आगम वेद पुराणे पंडिठ मान बहन्ति।
पक्क सिरिफल अलिय जिमवाहेरति भ्रमयन्ति॥ (कण्हपा)

आगमों में ऋग्वेद के काम की उपासना कामेश्वर के रूप में प्रचलित थी और उसका विकसित स्वरूप परिमार्जित भी था। वे कहते थे—

जायया सम्परिष्वक्तो न वाह्यं वेद नान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम्॥

फिर भी सहजानन्द के पीछे बौद्धिक गुप्त कर्मकाण्ड की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृङ्खलता से पार कर चुकी थी। हिन्दी के इन आदि रहस्यवादियों को, आनन्द के सहज साधकों को, बुद्धिवादी निर्गुण सन्तों को स्थान देना पड़ा। कबीर इस परम्परा के सब से बड़े कवि हैं। कबीर में विवेकवादी राम का अवलम्ब है और सम्भवतः वे भी **साधो सहज समाधि भली** इत्यादि में सिद्धों की सहज भावना को ही, जो उन्हें आगमवादियों से मिली थी, दोहराते हैं। कवित्व की दृष्टि से भी कबीर पर सिद्धों की कविता की छाया है। उन पर कुछ मुसलमानी प्रभाव भी पड़ा अवश्य; परन्तु शामी पैगम्बरों से अधिक उनके समीप थे वैदिक ऋषि, तीर्थंकर नाथ और सिद्ध। कबीर के बाद तथा कुछ-कुछ समकाल में ही कृष्णवाली मिश्र रहस्य की धारा आरम्भ हो चली थी। निर्गुण राम और सुधारक रहस्यवाद के साथ ही तुलसीदास के सगुण समर्थ राम का भी वर्णन सामने आया। कहना असंगत न होगा कि उस समय हिन्दी-साहित्य में रहस्यवाद की इतनी प्रबलता थी कि स्वयं तुलसीदास को भी अपने महाप्रबन्ध में रहस्यात्मक संकेत रखना पड़ा। कदाचित् इसीलिए उन्होंने कहा है—**अस मानस मानस चख चाही।** किन्तु कृष्णचन्द्र में आनन्द और विवेक का, प्रेम और सौन्दर्य का सम्मिश्रण था। फिर तो व्रज के कवियों ने **राधिका-कन्हाई-सुमिरन**

के बहाने आनन्द की सहज भावना परोक्ष भाव में की। मीरा और सूरदास ने प्रेम के रहस्य का साहित्य संकलन किया। देव, रसखान, घनआनन्द इन्हीं के अनुयायी थे। मीरा ने कहा--

सूली ऊपर सेज पिया की, किस विधि मिलणो होय।

यह प्रेम, मिलन की प्रतीक्षा में, सदैव विरहोन्मुख रहा। देव ने भी कुछ इसी धुन में कहना चाहा—

हौं ही व्रज वृन्दावन मोही में बसत सदा
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत,
कुञ्जन में सुनियत गुञ्जन अलीन की॥
बंसीवट-तट नटनागर नटत मो में,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भर रही भनक बनक ताल तानन की
तनक तनक ता में खनक चुरीन की॥

परन्तु वे वृन्दावन ही बन सके, श्याम नहीं। यह प्रेम का रहस्यवाद विरह-दुःख से अधिक अभिभूत रहा। यद्यपि कुछ लोगों ने इसमें सहज आनन्द की योजना भी की थी और उसमें माधुर्य-महाभाव के उज्ज्वल नीलमणि को परकीय प्रेम के कारण गोप्य और रहस्यमूलक बनाने का प्रयत्न भी किया था, परन्तु द्वैतमूलक होने के कारण तथा बाह्य आवरण में बुद्धिवादी होने से यह विषय में साहित्यिक ही अधिक रहा। निर्गुण सम्प्रदायवाले सन्तों ने भी राम की बहुरिया बन कर प्रेम और विरह की कल्पना कर ली थी; किन्तु सिद्धों की रहस्य-सम्प्रदाय की परम्परा में तुकनगिरि और रसालगिरि आदि ही शुद्ध रहस्यवादी कवि लावनी में आनन्द और अद्वयता की धारा बहाते रहे।

साहित्य में विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत-वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद

सौन्दर्य-लहरी के शरीरं त्वं शम्भो का अनुकरण-मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यञ्जना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। वर्त्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।

रस

जब काव्यमय श्रुतियों का काल समाप्त हो गया और धर्म ने अपना स्वरूप अर्थात् शास्त्र और स्मृति बनाने का उपक्रम किया—जो केवल तर्क पर प्रतिष्ठित था—तब मनु को भी कहना पड़ा—

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

परन्तु आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति, जो मानव-ज्ञान की अकृत्रिम धारा थी, प्रवाहित रही। काव्य की धारा लोकपक्ष से मिलकर अपनी आनन्द-साधना में लगी रही। यद्यपि शास्त्रों की परम्परा ने आध्यात्मिक विचार का महत्त्व उससे छीन लेने का प्रयत्न किया, फिर भी अपने निषेधों की भयानकता के कारण, हृदय के समीप न हो कर वह अपने शासन का रूप ही प्रकट कर सकी। अनुभूतियाँ काव्य-परम्परा में अभिव्यक्त होती रहीं। **जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्** (**भरत**) से यह स्पष्ट होता है कि सर्व-साधारण के लिए वेदों के आधार पर काव्यों का पंचम वेद की तरह प्रचार हुआ। भारतीय वाङमय में नाटकों को ही सब से पहले काव्य कहा गया।

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव (अभिनवगुप्त)

शैवागमों के **क्रीड़ात्वेनाखिलम् जगत्** वाले सिद्धान्त का नाट्य-शास्त्र में व्यावहारिक प्रयोग है।

इन्हीं नाट्योपयोगी काव्यों में आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अभिनवगुप्त ने कहा है **आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते**। नाटकों में भरत के मत से चार ही मूल रस हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी गयी। शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक। इन चित्तवृत्तियों में आत्मानुभूति का विलास आरम्भिक विवेचकों को रमणीय और उत्कर्षमय मालूम हुआ। नाट्यों में वाणी के छन्द, गद्य और संगीत, इन तीनों प्रकारों का समावेश था। इस तरह आभ्यन्तर और बाह्य दोनों में नाट्य-संघटना पूर्ण हुई। रसात्मक अनुभूति आनन्दमात्रा से सम्पन्न थी और तब नाटकों में रस का आवश्यक प्रयोग माना गया; किन्तु रस-सम्बन्धी भरत मुनि के सूत्र ने भावी आलोचकों के लिए अद्भुत सामग्री उपस्थित की। **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः** की विभिन्न व्याख्याएँ होने लगीं। स्वयं भरत ने लिखा है **तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसनाम लभते (नाट्यशास्त्र, अ० ७)** अर्थात् प्रमुख स्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व को प्राप्त होती हैं। आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्वसाधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्भावना की थी। हाँ, भारत में नाट्य-प्रयोग केवल कुतूहल-शान्ति के लिए ही नहीं था। अभिनव भारतीय में कहा है—

तदनेन पारमार्थिकम् प्रयोजनमुक्तमिति व्याख्यानम् सहृदयदर्पणे प्रत्यग्रहीत् यदाह—नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शंभवे यतः ! प्रतिक्षणम् जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः। इति एवं नाट्यशास्त्रप्रवचनप्रयोजनम्। नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नटराज शंकर के जगन्नाटक का अनुकरण करने

के लिए पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था। स्वयम् भरत मुनि ने भी नाटच-प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप में ही माना था।

इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति (४ अध्याय)

इधर विवेक या बुद्धिवादियों की वाङ्मयी धारा, दर्शनों और कर्म-पद्धतियों तथा धर्मशास्त्रों का प्रचार करके भी, जनता के समीप न हो रही थी। उन्होंने पौराणिक कथानकों के द्वारा वर्णनात्मक उपदेश करना आरम्भ किया। उनके लिए भी साहित्कि व्याख्या की आवश्यकता हुई। उन्हें केवल अपनी अलंकारमयी सूक्तियों पर ही गर्व था; इसलिए प्राचीन रसवाद के विरोध में उन्होंने अलंकार मत खड़ा किया, जिसमें रीति और वक्रोक्ति इत्यादि का भी समावेश था।

इन लोगों के पास रस-जैसी कोई आभ्यन्तरिक वस्तु न थी। अपनी साधारण धार्मिक कथाओं में वे काव्य का रंग चढ़ा कर सूक्ति, वाग्विकल्प और वक्रोक्ति के द्वारा जनता को आकृष्ट करने में लगे रहे। शिलालिन, कृशाश्व और भरत आदि के ग्रन्थ अपनी आलोचना और निर्माण-शैली की व्याख्या के द्वारा रस के आधार थे। अलंकार की आलोचना और विवेचना के लिए भी उसी तरह के प्रयत्न हुए। भामह ने पहले काव्य-शरीर का निर्देश किया और अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का विवेचन किया। इनके अनुयायी दण्डी ने रीति को प्रधानता दी। सौन्दर्य-ग्रहण की पद्धति समझने के लिए वाग्विकल्पों के चारुत्व का अनुशीलन होने लगा। अलंकार का महत्त्व बढ़ा; क्योंकि वे काव्य की शोभा मान लिये गये थे। पिछले काल में तो वे कनककुण्डल की तरह आभूषण ही समझ लिये गये। काव्यालंकार सूत्रों में ये आलोचक कुछ और गहरे उतरे और उन्होंने अलंकारों की व्याख्या सौन्दर्य-बोध के आधार पर करने का प्रयत्न किया।

काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः—इत्यादि से सौन्दर्य की प्रतिष्ठा अलंकार में हुई। काव्य के सौन्दर्य-बोध का आधार शब्द-विन्यास-कौशल ही रहा। इसी को वे रीति कहते थे। **विशिष्ट-पद-रचना**

रीतिः से यह स्पष्ट है। रीति, अलंकार तथा वक्रोक्ति श्रव्य काव्यों के सम्बन्ध में विचार करनेवालों के निर्माण थे; इसलिए आरम्भ में इन लोगों ने रस को भी एक तरह का अलंकार ही माना और उसे रसवद् अलंकार कहते थे। अलंकार मत के रीति-ग्रन्थों के जितने लेखक हुए, उन्होंने शब्दों को ही प्रधान मान कर अपने काव्य-लक्षण बनाये। **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** इत्यादि।

इन परिभाषाओं में शब्द और वाक्य ही काव्यरूप माने गये हैं। पण्डित-राज ने तो **तददोषौ शब्दार्थौ** में से अर्थ का बहिष्कार करने का भी आग्रह किया है। शब्द-मात्र ही काव्य है, शब्द और अर्थ दोनों नहीं। भले ही उसमें से रमणीयार्थ निकलना आवश्यक हो, पर काव्य है शब्द ही। इन शब्द-विन्यास-कौशल का समर्थन करनेवालों को भी रस की आवश्यकता प्रतीत हुई; क्योंकि रस-जैसी वस्तु इनके काव्य-शरीर की आत्मा बन सकती थी। 'श्रृंगारतिलक' में स्वीकार किया गया है कि—

प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः
यथामति मयाप्येषा काव्ये प्रतिनिगद्यते।

आलंकारिकों के काव्य-शरीर या बाह्य वस्तु से साहित्यिक आलोचना पूर्ण नहीं हो सकती थी। कहा जाता है कि 'अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ कर वाक्‌वैचित्र्य को पकड़ कर चला; पर वाक्-वैचित्र्य का दृश्य गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है।' तब तो यह मानना पड़ेगा कि विशिष्ट-पद-रचना-रीति और वक्रोक्ति को प्रधानता देनेवाले अलंकारवादी भामह, दण्डी, वामन और उद्‌भट आदि अभिव्यंजनावादी ही थे।

साहित्य में विकल्पात्मक मनन-धारा का प्रभाव इन्हीं अलंकारवादियों ने उत्पन्न किया तथा अपनी तर्क-प्रणाली से आलोचना-शास्त्र की स्थापना की; किन्तु संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु रस का प्रलोभन, कदाचित्

उन्हें अभिनवगुप्त की ओर से ही मिला। उन्होंने रस के सम्बन्ध में ध्वन्यालोक की टीका में लिखा है—

'काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मिस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्त्ता। अस्तु वा नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः।

रस को अपनाकर भी इन बुद्धिवादी तार्किकों ने अपने पाण्डित्य के बल पर उसके सम्बन्ध में नये-नये वाद खड़े किये। रस किसे कहते हैं, उसकी व्यापार-सीमा कहाँ तक है, वह व्यंग्य है कि वाच्य, इस तरह के बहुत-से मतभेद उपस्थित हुए। दार्शनिक युक्तियाँ लगाई गईं। रस कार्य है कि अनुमेय, भोज्य है कि ज्ञाप्य—इन प्रश्नों पर रस का, काव्य और नाटक दोनों में समन्वय करने की दृष्टि से विचार होने लगा; क्योंकि इस काल में काव्य से स्पष्टतः श्रव्य काव्य का और नाटक से दृश्य का अर्थ किया जाने लगा था। किन्तु सामाजिकों या अभिनेताओं में आस्वाद्य वस्तु रस के लिए भरत की व्यवस्था के अनुसार सात्विक, आंगिक, वाचिक और आहार्य्य, इन चारों क्रियाओं की आवश्यकता थी। अलंकारवादियों के पास केवल वाचिक का ही बल था। फिर तो रस को श्रव्य काव्योपयोगी बनाने के लिए कई उपाय किये गये। उन्हीं में से एक उपाय आक्षेप भी है। आक्षेप के द्वारा विभाव, अनुभाव या संचारी में से एक भी अन्य दोनों को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। रस के सम्बन्ध में विकल्पवादियों के ये आरोपित तर्क थे। आनन्द परम्परावाले शैवागमों की भावना में प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी। रस की अभेद और आनन्दवाली व्याख्या हुई। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक-सामान्य-प्रकाश-आनन्दमय, आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।

रस और अलंकार दोनों सिद्धान्तों में समझौता कराने के लिए ध्वनि की व्याख्या अलंकारसरणि-व्यवस्थापक आनन्दवर्द्धन ने इस तरह से की

कि ध्वनि के भीतर ही रस और अलंकार दोनों आ गये। इन दोनों से भी जो साहित्यिक अभिव्यक्ति बची, उसे वस्तु कह कर ध्वनि के अन्तर्गत माना गया। काव्य की आत्मा ध्वनि को मान कर रस, अलंकार और वस्तु, इन तीनों को ध्वनि का ही भेद समझने का उपक्रम हुआ। फिर भी आनन्दवर्द्धन ने यह स्वीकार किया कि वस्तु और अलंकार से प्रधान रस ध्वनि ही है—**प्रतीयमानस्य चान्यप्रभेददर्शनेपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्** (**आनन्दवर्द्धन**) आनन्दवर्द्धन ने रस-ध्वनि को प्रधान माना ; परन्तु अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की ही टीका में अपनी पाण्डित्यपूर्ण विवेचन-शैली से यह सिद्ध किया कि काव्य की आत्मा रस ही है। **तेन रसमेव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनिस्तु सर्वथा रसं प्रतिपर्य्यवस्यते** (**लोचन**)।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि अलंकार-व्यवस्थापक आनन्दवर्द्धन ने श्रव्य काव्यों में भी रसों का उपयोग मान लिया था ; परन्तु आत्मा के रूप में ध्वनि की ही प्रधानता इस विचार से रक्खी कि अलंकार-मत में रस-जैसी नाट्य-वस्तु सब से अधिक प्रमुख न हो जाय। यह सिद्धान्तों की लड़ाई थी। आनन्दवर्द्धन ने रस की दृष्टि से विवेचना करते हुए महाभारत को शान्त-रस-प्रधान और रामायण को करुण-रस का प्रबन्ध माना ; किन्तु मुक्तकों में रस की निष्पत्ति कठिन देख कर उन्होंने यह भी कहा कि श्रव्य के अन्तर्गत मुक्तक काव्यों में रस की निबन्धना अधिक प्रयत्न करने पर ही कदाचित् सम्भव हो सकेगी।

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिना॥
अन्यथात्वस्य रसमयश्लोकएकोपि सम्यङ न सम्पद्यते।

आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और उन्होंने वहाँ के आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को तार्किक अलंकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय

आनन्द पथवाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। नाटकों के स्वरूप तो उनके सिद्धान्त और दार्शनिक पक्ष के अनुकूल ही थे। अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन नाम की टीका में स्पष्ट ही लिखा है—

तदुत्तीर्णत्त्वे तु सर्वम् परमेश्वराद्वयम् ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रानुसरणेन विदितम् तन्त्रालोकग्रन्थे विचारयेत्यास्ताम् ।

अभिनवगुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द सिद्धान्त की अभिनेय काव्यवाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। शिवसूत्रों में लिखा है—**नर्तक आत्मा प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि।** इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य-गोष्ठियों में प्रचलित रक्खा था ; इसलिए उनके यहाँ रस का साम्प्रदायिक प्रयोग होता था। **विगलितभेदसंस्कारमानन्दरस-प्रवाहमयमेव पश्यति (क्षेमराज)** इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है। अभिनवगुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया। भट्ट नायक ने साधारणी-करण से जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी, अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण-द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है। **परब्रह्मास्वाद-सब्रह्मचारित्वम् वास्त्वस्य रसस्य (लोचन)** वासनात्मक रूप से स्थित रति आदि वृत्तियों में ब्रह्मास्वाद की कल्पना साहित्य में महान् परिवर्त्तन लेकर उपस्थित हुई। रति आदि कई वृत्तियाँ स्थायी मानी जा चुकी थीं ; किन्तु आलोचक एक आत्मा की खोज में थे। रस को अपनाकर वे कुछ द्विविधा में पड़ गये थे। आनन्दवादियों की यह व्याख्या उन सब शंकाओं का समाधान कर देती थी। उनके यहाँ कहा गया है **लोकानन्दः समाधिसुखं (शिवसूत्र १८)** क्षेमराज उसकी टीका में कहते हैं **प्रमातृ-पदविश्रान्ति अवधानान्तश्चमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधि-**

सुखम्। इस प्रमातृपद-विश्रान्ति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोकसंस्था आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण में प्रकाशानन्दमय सम्विद् विश्रान्ति के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्लीनता समाधि-सुख ही है। साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृपद—अहम् में विश्रान्ति होना ही पर्याप्त था। अभिनव के आगमाचार्य गुरु उत्पल ने कहा है कि—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।

प्रकाश का यहाँ तात्पर्य है चैतन्य। यह चेतना जब आत्मा में ही विश्रान्ति पा जाय वही पूर्ण अहंभाव है। साधारणीकरण-द्वारा आत्म-चैतन्य का रसानुभूति में, पूर्ण अहंपद में विश्रान्ति हो जाना आगमों की ही दार्शनिक सीमा है। साहित्यदर्पणकार की रस-व्याख्या में उन्हीं लोगों की शब्दावली भी है—

स्वत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः इत्यादि।

यह रस बुद्धिवादियों के पास गया, तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्त्व है। फिर तो **चमत्कारापरपर्याय अनुभव साक्षिक** रस को पण्डितराज जगन्नाथ ने आगमवादियों की ही तरह **रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वाऽनन्दीभवति** के प्रकाश में आनन्द ब्रह्म ही मान लिया।

सम्भवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध भी किया गया। क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। अभिज्ञान शाकुन्तल इसका सब से बड़ा उदाहरण

है। बुद्धिवाद के अनन्य समर्थक व्यास की कृति महाभारत शान्त रस के अनुकूल होने पर भी दुःखान्त है। रामायण भी दुःखान्त ही है।

शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी, रस की दोनों सीमाओं श्रृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे। भरत ने कहा है--

भावा विकारा रत्याद्यः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते।

यह शान्त रस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है। किन्तु बुद्धि-द्वारा सुख की खोज करनेवाले सम्प्रदाय ने रसों में श्रृंगार को महत्त्व दिया और आगे चलकर शैवागमों के प्रकाश में साहित्य-रस की व्याख्या से सन्तुष्ट न होकर, उन्होंने श्रृंगार का नाम मधुर रख लिया। कहना न होगा कि उज्ज्वल नीलमणि का सम्प्रदाय बहुत कुछ विरहोन्मुख ही रहा, और भक्ति-प्रधान भी। उन्होंने कहा है—

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेनोदितोरहस्यत्वात्,
पृथगेव भक्तिरसराट् सविस्तरेणोच्यते मधुरः।

कदाचित् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में इसीलिए नहीं मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। उसमें रसाभास की ही कल्पना होती थी। आगमों में तो भक्ति भी अद्वैतमूला थी। उनके यहाँ द्वैत-प्रथा तद्ज्ञानतुच्छत्वात् बंधमुच्यते के अनुसार द्वैत बन्धन था। इस मधुर-सम्प्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ, उसमें परकीया-प्रेम का महत्त्व इसीलिए बढ़ा कि वे लोग दार्शनिक दृष्टि से तत्त्व को स्व से पर मानते थे। उज्ज्वल नीलमणिकार का कहना है--

रागेणोल्लंघयन् धर्मम् परकीया बलार्थिना
तदीय प्रेम वसति बुधैरुपपतिस्मृतः
अत्रैव परमोत्कर्षः श्रृंगारस्य प्रतिष्ठितः।

श्रृंगार का परम उत्कर्ष परकीया में मानने का यही दार्शनिक कारण है जीव और ईश की भिन्नता। हाँ, इस लक्षण में धर्म का उल्लंघन करने

का भी संकेत है। विवेकवादी भागवत धर्म ने जब आगमों के अनुकरण में आनन्द की योजना अपने सम्प्रदाय में की, तो उसमें इस प्रेमा-भक्ति के कारण श्रुति-परम्परा के धार्मिक बन्धनों को तोड़ने का भी प्रयोग आरम्भ हुआ। उनके लिए परमतत्त्व की प्राप्ति सांसारिक परम्परा को छोड़ने से ही हो सकती थी। भागवत का वह प्रसिद्ध श्लोक इसके लिए प्रकाश-स्तम्भ बना—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।

यह आर्यपथ छोड़ने की भावना स्पष्ट ही श्रुति-विरोध में थी। आनन्द की योजना करने जा कर विवेकवाद के लिए दूसरा न तो उपाय था और न दार्शनिक समर्थन ही था। उन्होंने स्वीकार किया कि संसार में प्रचलित आर्य-सिद्धान्त सामान्य लोक-आनन्द तत्त्व से परे वह परम वस्तु है, जिसके लिए गोलोक में लास्य-लीला की योजना की गई; किन्तु समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली समरसता और आगमों के स्पन्द-शास्त्र के ताण्डव-पूर्ण विश्व-नृत्य का पूर्ण भाव उसमें न था। इन लोगों के द्वारा जब रसों की दार्शनिक व्याख्या हुई, तब उसे प्रेम-मूलक रहस्य में ही परिणत किया गया और यह रहस्य गोप्य भी माना गया। 'उज्ज्वल नीलमणि' की टीका में एक जगह स्पष्ट कहा गया है—

अयमुज्ज्वलनीलमणिरेतन्मूल्यमजानद्भ्योऽनादरशंकया गोप्य एवेति।

भारतेन्दुजी ने अपनी चन्द्रावली नाटिका में इसका संकेत किया है। इस रागात्मिका भक्ति के विकास में हास्य, करुण, वीभत्स इत्यादि प्राचीन रस गौण हो गये और दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि नये रसों की सृष्टि हुई। माधुर्य के नेतृत्व में द्वैत-भावना से परिपुष्ट दास्य आदि रस प्रमुख बने। आनन्द की भावना इन आधुनिक रसों में विश्रृंखल

ही रही। हिन्दी के आरम्भ में श्रव्य काव्यों की प्रचुरता थी। उनमें भी रस की धारा अपने मूल उद्गम आनन्द से अलग होकर चिर-विरहोन्मुख प्रेम के स्रोत में बही। यह बाढ़ वेगवती रही, किन्तु उसमें रस की पूर्णता नहीं। तात्त्विक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आत्मा की रस-अनुभूति एकांगी-सी बन गयी।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का और उनके सब स्वरूपों का नाट्य-रसों में आगमानुकूल व्याख्या से समन्वय हो गया था। अहम् की सब भावों में, सब अनुभूतियों में पूर्णता मान ली गयी थी। वह बात पिछले काल के रस-विवेचकों के द्वारा विश्रृंखल हो गयी। हाँ, इतना हुआ कि सिद्धान्त-रूप से ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार आदि सब मतों पर रस की सत्ता स्थापित हो गयी। वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।

फिर भी रस अपने स्वरूप में नाट्यों की अपनी वस्तु थी। और उसी में आत्मा की मूल अनुभूति पूर्णता को प्राप्त हुई थी। इसीलिए स्वीकार किया गया--**काव्येषु नाटकं रम्यम्**।

नाटकों में रस का प्रयोग

पश्चिम ने कला को अनुकरण ही माना है ; उसमें सत्य नहीं। उन लोगों का कहना है कि "मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है, इसलिए अनुकरण-मूलक कला में उसको सुख मिलता है।" किन्तु भारत में रस-सिद्धान्त के द्वारा साहित्य में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा हुई ; क्योंकि भरत ने कहा है—**आत्माभिनयनं भावो** (२६-३९)—आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं। जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की। आत्मा के निजी अभिनय में भावसृष्टि होती है। जिस तरह आत्मा की और इदम् की भिन्नता मिटाने में अद्वैतवाद का प्रयोग है, उसी प्रकार एक ही प्रत्यगात्मा के भाववैचित्र्यों का—जो नर्तक-आत्मा के अभिनय-मात्र हैं—अभेद या साधारणीकरण भी रस में है। इस रस में आस्वाद का रहस्य है। प्लेटो इसलिए अभिनेता में चरित्र-हीनता आदि दोष नित्य-सिद्ध मानता है ; क्योंकि वे क्षण-क्षण में अनुकरण-शील होते हैं, सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। किन्तु भारतीयों की दृष्टि

भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप में ग्रहण करो। इसमें विशुद्ध दार्शनिक अद्वैत भाव का भोग किया जा सकता है। यह देवतार्चन है। आत्म-प्रसाद का आनन्द-पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द ही है।

आस्वाद के आधार पर विवेचना करने में कहा जा सकता है कि आस्वाद तो केवल सामाजिकों को ही होता है। नटों को उसमें क्या? आधुनिक रंगमंच का एक दल कहता है कि "नट को आस्वाद, अनुभूति की आवश्यकता नहीं। रंग-मंच में हम वाह्य-विन्यास (मेक-अप) के द्वारा गूढ़-से-गूढ़ भावों का अभिनय कर लेते हैं।"* किन्तु यह विवाद भारतीय रंगमंच के प्राचीन संचालकों में भी हुआ था। इसी तरह एक पक्ष कहता था—

अष्टावेव रसनाटचेष्विति केचिदचूचुदन, तदचारु यतः किञ्चिन्न रसं स्वदते नटः। अर्थात् नट को आस्वाद तो होता ही नहीं, इसलिए शान्त भी क्यों न अभिनयोपयोगी रस माना जाय। यह कहना व्यर्थ है कि **शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे चेतदसम्भवात्, अष्टावेव रसाः नाटचे न**

---

*The new make-up method is worked out by applying plastic material to a cast of the face, working out the desired character on it, and fashioning facial inlays of a secret composition which, affixed with water-soluble gum, also a secret, can transform the face into another. The flexibility of the material permits every expression. Barrymore, a deep student of history, hopes to play many historical characters by its use.

("Advance", 20 Dec., 36.)

शान्तस्तत्र युज्यते। शम का अभाव नटों में होता है। शान्त का अभिनय असंभव है। नटों में तो किसी भी आस्वाद का अभाव है ; इसलिए शान्त रस भी अभिनीत हो सकता है, इसकी आवश्यकता नहीं कि नट परम शान्त, संयत हो ही। किन्तु साधारणीकरण में रस और आस्वाद की यह कमी मानी नहीं गयी। क्योंकि भरत ने कहा है कि—

इन्द्रियार्थश्च मनसा भाव्यते ह्यनुभावितः।
नवेत्तिह्यमनाः किञ्चिद्विषयं पञ्चहेतुकम्॥ (२४-२८)

इन्द्रियों के अर्थ को मन से भावना करनी पड़ती है। अनुभावित होना पड़ता है। क्योंकि अन्यमनस्क होने पर विषयों से उसका सम्बन्ध ही छूट जाता है। फिर तो **क्षिप्रं संजातरोमाञ्चा बाष्पेणावृतलोचना, कुर्वीत नर्तकी हर्षप्रीत्या वाक्यैश्च सस्मितैः** (२६-५०)। इन रोमाञ्च आदि सात्विक अनुभावों का पूर्ण अभिनय असंभव है। भरत ने तो और भी स्पष्ट कहा है—**एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन्। वागङ्गलीलागतिभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत्** (३५-१४)। तब यह मान लेना पड़ेगा कि रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं, प्रत्युत नटों में भी है। हाँ, रस-विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं—**कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नाटयव्यापारः सैव च संवित् परमार्थतो रसः** (अभिनव-भारती ६ अध्याय) कवि में साधारणीभूत जो संवित् है, चैतन्य है, वही काव्यपुरस्सर होकर नाट्यव्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित् परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस-विवेचना में संवित् का साधारणीकरण त्रिवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।

इधर एक निम्न कोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब किसी अत्याचारी के अत्याचार को हम रंगमंच पर देखते हैं, तो हम उस नट से अपना साधारणीकरण नहीं कर पाते।

फलतः उसके प्रति रोष-भाव ही जाग्रत होता है, यह तो स्पष्ट बिषमता है।' किन्तु रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम संधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं ; रस को खोज कर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनों प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है। इसलिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक-मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती। इस कल्पना के और भी कारण हैं। वर्तमान काल में नाटकों के विषयों के चुनाव में मतभेद है। कथा-वस्तु भिन्न प्रकार से उपस्थित करने की प्रेरणा बलवती हो गयी है। कुछ लोग प्राचीन रस-सिद्धान्त से अधिक महत्त्व देने लगे हैं—चरित्र-चित्रण पर। उनसे भी अग्रसर हुआ है दूसरा दल, जो मनुष्यों के विभिन्न मानसिक आकारों के प्रति कुतूहलपूर्ण है अथ च व्यक्ति-वैचित्र्य पर विश्वास रखनेवाला है। ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता-मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं, क्योंकि पहला चरित्र-चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ठ हो गया है, चारित्र्य का समर्थक है, किन्तु व्यक्ति-वैचित्र्यवाले अपने को यथार्थवादियों में ही रखना चाहते हैं।

यह विचारणीय है कि चरित्र-चित्रण को प्रधानता देनेवाले ये दोनों पक्ष रस से कहाँ तक सम्बद्ध होते हैं। इन दोनों पक्षों का रस से सीधा सम्बन्ध तो नहीं दिखाई देता ; क्योंकि इसमें वर्तमान युग की मानवीय मान्यताएँ अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति में पाता है। फिर उसे साधारणतः अभेदवाली कल्पना, रस का साधारणीकरण कैसे हृदयंगम हो ? वर्तमान युग बुद्धिवादी है, आपाततः उसे दुःख को प्रत्यक्ष् सत्य मान लेना पड़ा है। उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य-सा है। किन्तु इसमें एक बात और भी है। पश्चिम को उपनिवेश बनानेवाले आर्यों ने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीय भावनाएँ विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। उन परिस्थितियों से व्यक्ति अपना

सामञ्जस्य नहीं कर पाता। कदाचित् दुर्गम भूभागों में, उपनिवेशों की खोज में, उन लोगों ने अपने को विपरीत दशा में ही भाग्य से लड़ते हुए पाया। उन लोगों ने जीवन की इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने के कारण इस जीवन को (ट्रेजडी) दुःखमय ही समझ पाया। और यह उनकी मनुष्यता की पुकार थी, आजीवन लड़ने के लिए। ग्रीक और रोमन लोगों को बुद्धिवाद भाग्य से, और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा। उन्हें सहायता के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए, मुक्त अवसर देता रहा ; इसलिए उनका बुद्धिवाद, उनकी दुःख-भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी। यह भाग्य या नियति की विजय थी।

परन्तु अपने घर में सुव्यवस्थित रहनेवाले आर्यों के लिए यह आवश्यक न था, यद्यपि उनके एक दल ने संसार में सब से बड़े बुद्धिवाद और दुःख-सिद्धान्त का प्रचार किया, जो विशुद्ध दार्शनिक ही रहा। साहित्य में उसे स्वीकार नहीं किया गया। हाँ, यह एक प्रकार का विद्रोह ही माना गया। भारतीय आर्यों को निराशा न थी। करुण रस था, उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद, निर्विकार आनन्द लेने में अधिक सुख माना।

आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्यों को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिए इनको बीच का माध्यम-सा ही मानता आया। सामाजिक इतिहास में, साहित्य-सृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारों में चरित्र-निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा सँभाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का काम कर लिया। दया और

सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी। वर्तमान साहित्यिक प्रेरणा—जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य हैं—मूल में संशोधनात्मक ही है। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न कर के समाज का संशोधन है; और कहीं समाज की दृष्टि से व्यक्ति का! किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन्न कर के भी वह दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है। भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। वासना से ही क्रिया सम्पन्न होती है, और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल! रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती है; इसलिए वह वासना का संशोधन कर के उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है; और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बन कर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर, रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।

नाटकों का आरम्भ

कहा जाता है कि 'साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और इसके पीछे महाकाव्य आते हैं'; किन्तु प्राचीनतम संचित साहित्य ऋग्वेद छन्दात्मक है। यह ठीक है कि नित्य के व्यवहार में गद्य की ही प्रधानता है; किन्तु आरम्भिक साहित्य-सृष्टि सहज में कण्ठस्थ करने के योग्य होनी चाहिए; और पद्य इसमें अधिक सहायक होते हैं। भारतीय वाङमय में सूत्रों की कल्पमा भी इसीलिए हुई कि वे गद्य-खण्ड सहज ही स्मृतिगम्य रहें। वैदिक-साहित्य के बाद लौकिक साहित्य में भी रामायण तथा महाभारत आदि काव्य माने जाते हैं। इन ग्रन्थों को काव्य मानने पर, लौकिक-साहित्य में भी पहले-पहल पद्य ही आये; क्योंकि वैदिक-साहित्य में भी ऋचाएँ आरम्भ में थीं। फिर तो इस उदाहरण से यह नहीं माना जा सकता कि पहले गद्य, तब गीति-काव्य, फिर महाकाव्य होते हैं।

संस्कृत के आदि-काव्य रामायण में भी नाटकों का उल्लेख है।

बधुनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्——१४-५ अध्याय, बालकांड

ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता।

सम्भवतः रामायण-काल के नाटकसंघ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे। महाभारत में भी रम्भाभिसार के अभिनय का विशद बर्णन मिलता है। तब इन पाठ्य काव्यों से नाटक काव्य प्राचीन थे, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। भरत के नाट्य-शास्त्र में अमृत-मन्थन और त्रिपुरदाह नाम के नाटकों का उल्लेख मिलता है। भाष्यकार पतञ्जलि ने कंस-वध और बलि-बन्ध नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इन प्राचीन नाटकों की कोई प्रतिलिपि नहीं मिलती। सम्भव है कि अन्य प्राचीन साहित्य की तरह ये सब नाटक नटों को कण्ठस्थ रहे होंगे। कालिदास ने भी जिन भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है, उनमें से अभी केवल भास के ही नाटक मिले हैं, जिन्हें कुछ लोग ईसा से कई शताब्दी पहले का मानते हैं। नाटकों के सम्बन्ध में लोगों का यह कहना है कि उनके बीज वैदिक संवादों में मिलते हैं। वैदिक काल में भी अभिनय सम्भवतः बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते रहे। एक छोटे-से अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अवसर पर आता है। इसमें तीन पात्र होते थे—यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु। यह ठीक है कि यह याज्ञिक क्रिया है, किन्तु है अभिनय-सी ही। क्योंकि सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी इस याग की योजना करते। सोम राजा का क्रय समारोह के साथ होता। सोम राजा के लिए पाँच बार मोल-भाव किया जाता। सोम बेचनेवाले प्रायः बनवासी होते। उनसे मोल-भाव करने में पहले पूछा जाता—

'सोम-विक्रयी! सोम राजा बेचोगे?"

'बिकेगा।'

'तो लिया जायगा।'

'ले लो।'

'गौ की एक कला से उसे लूंगा।'

'सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य हैं।'

'गौ भी कम महिमावाली नहीं। इसमें मट्ठा, दूध, घी सब हैं अच्छा, आठवाँ भाग ले लो।'

'नहीं सोम राजा अधिक मूल्यवान् हैं।'

'तो चौथाई लो।'

'नहीं और मूल्य चाहिए।'

'अच्छा, आधी ले लो।'

'अधिक मूल्य चाहिए।'

'अच्छा, पूरी गौ ले लो भाई।'

'तब सोम राजा बिक गये; परन्तु और क्या दोगे? सोम का मूल्य समझकर और कुछ दो।'

'स्वर्ण लो, कपड़े लो, गाय के जोड़े, बछड़ेवाली गौ, जो चाहो सब दिया जायगा।' (यह मानो मूल्य से अधिक चाहनेवाले को भुलावा देने के लिए अध्वर्यु कहता।)

फिर जब बेचने के लिए वह प्रस्तुत हो जाता, तब सोम-विक्रेता को सोना दिखलाकर ललचाते हुए निराश किया जाता। यह अभिनय कुछ काल तक चलता। (**सम्मेत इति सोमविक्रयिणं हिरण्येनाभिकम्पयति**)। सूत्र की टीका में कहा गया है **हिरण्यं दत्त्वा स्वीकुर्वतस्तं निराशं कुर्यात्**। उस जंगली को छकाकर फिर वह सोना अध्वर्यु यजमान के पास रख देता; और उसे एक बकरी दी जाती। सम्भवतः सोना भी उसे दे दिया जाता। तब सोम-विक्रेता यजमान के कपड़े पर सोम डाल देता। सोम मिल जाने पर यजमान तो कुछ जप करने बैठ जाता। जैसे अब उससे सोम के झगड़े से कोई सम्बन्ध नहीं। सहसा परिवर्त्तन होता। (**हिरण्यं सहसाऽच्छित्य पृषता वरत्राकाण्डेनाहन्तिवा** ७-८-२५, कात्यायन श्रौत सूत्र) सोम-विक्रेता से सहसा सोना छीनकर उसकी पीठ पर कोड़े लगाकर उसे भगा दिया जाता। इसके बाद सोम राजा गाड़ी पर घुमाये जाते, फिर सोमरस

के रसिक आनन्द और उल्लास के प्रतीक इन्द्र का आवाहन किया जाता। भरत ने भी लिखा है कि—

महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः
अयं ध्वजमहः श्रीमान्महेन्द्रस्य प्रवर्तते।

देवासुर-संग्राम के बाद इन्द्रध्वज के महोत्सव पर देवताओं के द्वारा नाटक का आरम्भ हुआ। भरत ने नाट्य के साथ नृत्त का समावेश कैसे हुआ, इसका भी उल्लेख किया है। कदाचित् पहले अभिनयों में—जैसा कि सोमयाग-प्रसंग पर होता था—नृत्त की उपयोगिता नहीं थी; किन्तु वैदिक काल के बाद जब आगमवादियों ने रस-सिद्धान्तवाले नाटकों को अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया, तो परमेश्वर के ताण्डव के अनुकरण में, उसकी संवर्द्धना के लिए, नृत्त में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की। भरत ने भी कहा है—

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः

(४–२७१)

परमेश्वर के विश्वनृत्त की अनुभूति-द्वारा नृत्त को उसी के अनुकरण में आनन्द का साधन बनाया गया। भरत ने लिखा है कि त्रिपुरदाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से ताण्डव की योजना इसमें की गयी। इन बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नृत्त पहले बिना गीत का होता था, उसमें गीत और अभिनय की योजना पीछे से हुई। और इसे तब नृत्य कहने लगे। इनका और भी एक भेद है। शुद्ध नृत्त में रेचक और अंगहार का ही प्रयोग होता था। गान वाद्य तालानुसार भौंह, हाथ, पैर और कमर का कम्पन नृत्य में होता था। ताण्डव और लास्य नाम के इसके दो भेद और हैं। कुछ लोग समझते हैं कि ताण्डव पुरुषोचित और उद्धत नृत्य को ही कहते हैं; किन्तु यह बात नहीं, इसमें विषय की विचित्रता है। ताण्डव नृत्य प्रायः देव-सम्बन्ध में होता था।

प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत्। (४—२७५)

और लास्य अपने विषय के अनुसार लौकिक तथा सुकुमार होता था। नाटच-शास्त्रों में लास्य के जिन दश अंगों का वर्णन किया गया है, वे प्रयोग में ही भिन्न नहीं होते थे, किन्तु उनके विषयों की भी भिन्नता होती थी। इस तरह नृत्त, नृत्य, ताण्डव और लास्य, प्रयोग और विषय के अनुसार, चार तरह के होते थे। नाटकों में इन सब भेदों का समावेश था। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में नृत्य की योजना पूर्व-रंग में देव-स्तुति के साथ होती थी। अभिनय के बीच-बीच में नृत्य करने की प्रथा भी चली। अत्यधिक गीत-नृत्य के लिए अभिनय में भरत ने मना भी किया है। **गीत-वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽति प्रसंगतः। खेदो भवेत् प्रयोक्तृणां प्रेक्षकाणाम् तथैव च।**

नाटच के साथ नृत्य की योजना ने अति प्राचीन काल में ही अभिनय को सम्पूर्ण बना दिया था। बौद्ध-काल में भी वह अच्छी तरह भारत-भर में प्रचलित था। विनयपिटक में इसका उल्लेख है कि कोटागिरि की रंगशाला में संघाटी फैलाकर नाचनेवाली नर्त्तकी के साथ, मधुर आलाप करने वाले और नाटक देखनेवाले अश्वजित् पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दण्ड मिला और वे विहार से निर्वासित कर दिये गये। (**चुल्ल वग्ग**)।

रंगशाला के आनन्द को दुःखवादी भिक्षु निन्दनीय मानते थे। यद्यपि गायन और नृत्य प्राचीन वैदिक काल से ही भारत में थे (**यस्यां गायंति नृत्यंति भूम्यां—पृथ्वीसूक्त**); किन्तु अभिनय के साथ इनकी योजना भी भारत में प्राचीन काल से ही हुई थी। इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि भारत में अभिनय कठपुतलियों से आरम्भ हुआ; और न तो महावीर-चरित ही छाया-नाटक के लिए बना। उसमें तो भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है—**ससंदर्भो अभिनेतव्यः**। कठपुतलियों का भी प्रचार सम्भवतः पाठच-काव्य के लिए प्रचलित किया गया। एक व्यक्ति काव्य का पाठ करता था और पुतलियों के छाया-चित्र उसी के साथ दिखलाये जाते थे। मलाबार में अब भी कम्बर के रामायण का छाया-नाटक

होता है* । कठपुतलियों से नाटक आरम्भ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों में मानना चाहिए। जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हो और जो सूक्ष्मता से सब में व्याप्त हो, उसे सूत्र कहते हैं। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों का जो ठीक-ठीक संचालन करता हो, वह सूत्रधार आजकल के डाइरेक्टर की ही तरह का होता था।

सम्भव है कि पटाक्षेप और जवनिका आदि के सूत्र भी उसी के हाथ में रहते हों। सूत्रधार का अवतरण रंगमंच पर सब से पहले रंग-पूजा और मंगलपाठ के लिए होता था। कथा या वस्तु की सूचना देने का काम स्थापक करता था। रंगमंच की व्यवस्था आदि में यह सूत्रधार का सहकारी रहता था; किन्तु नाटकों में **नाद्यन्ते सूत्रधारः** से जान पड़ता है कि पीछे लाघव के लिए सूत्रधार ही स्थापक का भी काम करने लगा।

हाँ, अभिनवगुप्त ने गद्य-पद्य-मिश्रित नाटकों से अतिरिक्त राग-काव्य का भी उल्लेख किया है (**अभिनव-भारतीय—अध्याय ४**)। राघवविजय और मारीच-बध नाम के राग-काव्य ठक्क और ककुभ राग में कदाचित् अभिनय के साथ वाद्य ताल के अनुसार गाये जाते थे। ये प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा में गीति-नाट्य कहे जाते हैं। इस तरह अति प्राचीन काल में ही नृत्य अभिनय से सम्पूर्ण नाटक और गीति-नाट्य भारत में प्रचलित थे। वैदिक, बौद्ध तथा रामायण और महाभारत-काल में नाटकों का प्रयोग भारत में प्रचलित था।

---

*The existence in India of the Ramayan shadow play will surprise not a few people. This primitive drama is still to be found in Malabar, where it is acted by strolling players and their puppets, and the author was lucky to witness a performance. (Note of Editor. The Illustrated Weekly of India, 7 July, 1933).

रंगमंच

भरत के नाटच-शास्त्र में रंगशाला के निर्माण के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से बताया गया है। जिस ढंग के नाटच-मन्दिरों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है, उससे जान पड़ता है कि पर्वतों की गुफाओं में खोदकर बनाये जानेवाले मन्दिरों के ढंग पर ही नगर की रंगशालाएँ बनती थीं।

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाटचमण्डपः से यह कहा जा सकता है कि नाटच-मन्दिर दो खण्ड के बनते थे, और वे प्रायः इस तरह के बनाये जाते थे, जिससे उनका प्रदर्शन विमान का-सा हो। शिल्प-सम्बन्धी शास्त्रों में प्रायः द्विभूमिक, दोखण्डे या तीन-खण्डे प्रासादों को, जो कि स्तम्भों के आधार पर अनेक आकारों के बनते थे, विमान कहते हैं। यहाँ 'द्विभूमिः' से ऐसा भी अर्थ लगाया जा सकता है कि एक भाग दर्शकों के लिए और दूसरा भाग अभिनय के लिए बनता था। किन्तु खुले हुए स्थानों में अभिनय करने के लिए जो काठ के रंगमंच रामलीला में विमान के नाम से व्यवहार में ले आये जाते हैं, उनकी ओर संकेत करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

रंगशाला में शिल्प का या वास्तु-निर्माण का प्रयोग किस तरह होता था, यह बताना सरल नहीं, तो भी नाट्य-मण्डप तीन तरह के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और व्यस्य। विकृष्ट नाट्य-मण्डप की चौड़ाई से लम्बाई दूनी होती थी। उस भूमि के दो भाग किये जाते थे। पिछले आधे के फिर दो भाग होते थे। आधे में रंगशीर्ष और रंगपीठ और आधे में पीछे नेपथ्य-गृह बनाया जाता था।

पृष्ठतो यो भवेत् भागो द्विधाभूतो भवेत् च सः
तस्यार्धेन विभागेन रंगशीर्षम् प्रयोजयेत्।
पश्चिमे तु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत्।

(२ अ० ना० शा०)

आगे के बड़े आधे भाग में बैठने के लिए, जिससे दर्शकों को रंगशाला का अभिनय अच्छी तरह दिखलाई पड़े, सोपान की आकृति का बैठक बनाया जाता था। कदाचित् वह आज की गैलरी की तरह होता था।

स्तम्भानाम् बाह्यतः स्थाप्यम् सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टका दारुभिः कार्यम् प्रेक्षकाणाम् निवेशनम् ॥

ईंटों और लकड़ियों से ये सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची बनाई जाती थीं। इसों प्रसंग में मत्तवारणी का भी उल्लेख है। अभिनवगुप्त के समय में भी मत्तवारणी का स्थान निर्दिष्ट करने में सन्देह और मतभेद हो गया था। नाट्य-शास्त्र में लिखा है—

रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतुः स्तम्भसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः
अध्यर्धहस्तोत्स्येध न कर्त्तव्या मत्तवारणी।

मत्तवारणी के कई तरह के अर्थ लगाये गये हैं। अभिनव-भारती में मत्तवारणी के सम्बन्ध में किसी का यह मत भी संग्रह किया गया है कि वह देवमन्दिर की प्रदक्षिणा की तरह रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी। किन्तु मेरी समझ में यह मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर बनाई जाती थी।

मत्तवारणी बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन देवप्रासादाट्टालिकाप्रदक्षिणासदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये, उपरिमण्डपान्तरनिवेशनादित्यपरे; किन्तु मेरी समझ में यह मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही ओर चार खम्भों से रुकावट के लिए बनाई जाती थी। मत्तवारणी शब्द से भी यही अर्थ निकलता है कि वह मतवालों को वारण करे। यह डेढ़ हाथ ऊँची रंगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी।

रंगमंच में भी दो भाग होते थे। पिछले भाग को रंग-शीर्ष कहते थे और सब से आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था। इन दोनों के बीच में जवनिका रहती थी। अभिनवगुप्त कहते हैं--**यत्र यवनिका रंगपीठ-तच्छिरसोर्मध्ये।** रंगमंच की इस योजना से जान पड़ता है कि अपटी, तिरस्करिणी और प्रतिसीरा आदि जो पटों के भेद हैं, वे जवनिका के भीतर के होते थे। रंगशीर्ष में नेपथ्य के भीतर के दो द्वार होते थे। रंगशीर्ष यंत्र-जाल, गवाक्ष, क्षालभंजिका आदि काठ की बनी नाना प्रकार की आकृतियों से सुशोभित होता था, जो दृश्योपयोगी होते थे। सम्भवतः यही मुख्य अभिनय का स्थान होता था।

पिण्डीबन्ध आदि नृत्य-अभिनय के साधारण अंश, चेटी आदि के द्वारा प्रवेशक की सूचना, प्रस्तावना आदि जवनिका के बाहर ही रंगपीठ पर होते थे। रंगपूजा रंगशीर्ष पर जवनिका के भीतर होती थी। सरगुजा के गुहा-मन्दिर की नाटच-शाला दो हजार वर्ष की मानी जाती है। कहा जाता है कि भोज ने भी कोई ऐसी रंगशाला बनवाई थी, जिसमें पत्थरों पर सम्पूर्ण शाकुन्तल-नाटक उत्कीर्ण था। आधुनिक रासलीला के अभिनयों में प्रचलित विमान यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में दोनों तरह के रंगमंच होते थे। एक तो वे, जिनके बड़े-बड़े नाटच-मन्दिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमंच, जो काठ के विमानों से बनाये जाते थे और चतुष्पथ तथा अन्य प्रशस्त खुले स्थानों में आवश्यकतानुसार घुमा-फिरा कर अभिनयोपयोगी कर लिये जाते थे।

नाट्य-मन्दिरों के भीतर स्त्रियों और पुरुषों के सुन्दर चित्र भीत पर लिखे जाते थे और उनमें स्थान-स्थान पर वातायनों का भी समावेश रहता था। नाट्य-मण्डप में कक्षाएँ बनाई जाती थीं, जिनमें अभिनय के दर्शनीय गृह, नगर, उद्यान, ग्राम, जंगल, पर्वत और समुद्रों का दृश्य बनाया जाता था। आधुनिक काल के रंगमंचों से कुछ भिन्न उनकी योजना अवश्य होती थी; किन्तु—

कक्ष्याविभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च
उद्यानारामसहितो देशो ग्रामोऽटवी तथा।

(ना० शा० १४ । अ०)

इत्यादि से यह मालूम होता है कि दृश्यों का विभाग करके नाट्य-मण्डप के भीतर उनकी इस तरह से योजना की जाती थी कि उनमें सब तरह के स्थानों का दृश्य दिखलाया जा सकता था; और जिस स्थान की वार्त्ता होती थी, उसका दृश्य भिन्न कक्ष्या में दिखाने का प्रबन्ध किया जाता था। स्थान की दूरी इत्यादि का भी संकेत कक्ष्याओं में उनकी दूरी से किया जाता था।

बा यम् वा मध्यमम् वापि तथैवाभ्यन्तरम् पुनः
दूरम् बा सन्निकृष्टम् वा देशाश्च परिकल्पयेत्।
यत्र वार्त्ता प्रवर्तेत तत्र कक्ष्याम् प्रवर्त्तते॥

रंगमंच में आकाशगामी सिद्ध विद्याधरों के विमानों के भी दृश्य दिखलाये जाते थे। यदि मृच्छकटिक और शाकुंतल तथा विक्रमोर्वशी नाटक खेलने ही के लिए बने थे, जैसा कि उनकी प्रस्तावनाओं से प्रतीत होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि रंगमंच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उसमें बैलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती हुई अप्सराएँ दिखलाई जा सकती थीं। इन दृश्यों के दिखलाने में मोम, मिट्टी, तृण, लाख, अभ्रक, काठ, चमड़ा, वस्त्र और बाँस के फंठों से काम लिया जाता था।

प्रतिपादौ प्रतिशिरः प्रतिहस्तौ प्रतित्वचम्
तृणजैः कीलजैर्माण्डैः सरूपाणीह कारयेत्।
यद्यस्य यादृशं रूपं सारूप्यगुणसंभवम्
मृन्मयं गात्रकृत्स्नं तु नाना रूपांस्तु कारयेत्।
भांडवस्त्रमधूच्छिष्टैः लाक्षयाभ्रदलेन च
नगास्तु विविधा कार्याः चर्मवर्मध्वजास्तथा।

(२४ अध्याय)

ऊपर के उद्धरणों से जान पड़ता है कि सरूप अर्थात् मुखौटों का भी प्रयोग दैत्य-दानवों के अंगों की विचित्रता के लिए होता था। कृत्रिम हाथ और पैर तथा मुखौटे मिट्टी, फूस, मोम, लाख और अभ्रक के पत्रों से बनाये जाते थे।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गयी है; किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष में—**प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा** ; तथा हलायुध में—**अपटी कांडपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी।**

इसमें 'य' से नहीं किन्तु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। जव का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब जवनिका उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके। कांड पट भी एक इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है, जिसमें पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का संयोग हो। प्रतिसीरा और तिरस्करिणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं। प्रतिसीरा तो नहीं; किन्तु तिरस्करिणी का प्रयोग विक्रमोर्वशी में एक जगह आता है। द्वितीय अंक में जब राजा प्रमोद-वन में आते हैं, तो वहीं पर आकाश-मार्ग से उर्वशी और चित्रलेखा का भी आगमन होता है। उर्वशी चित्रलेखा से कहती है—**तिरस्करिणी परि परिच्छन्ना पार्श्ववर्त्तिनी भूत्वा श्रोस्ये तावत्।** और

फिर आगे चलकर उसी अंक में **तिरस्करिणीम् अपनीय** तिरस्करिणी **को** हटाकर प्रकट होती है। प्रतिसीरा का भी प्रयोग सम्भव है खोजने से मिल जाय; किन्तु अपटी शब्द अत्यन्त संदेहजनक है। मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशी आदि में **ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण** कई स्थानों पर मिलता है। विक्रमोर्वशी के टीकाकार रंगनाथ ने **यतः––नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नाटके मतः इति नाटकसमयप्रसिद्धेर्यत्रासूचितपात्रप्रवेशस्तत्राकस्मिक-प्रवेशोऽपटीक्षेपेणेति वचनं युक्तम्। अत्र प्रस्तावनान्ते सूचितानामेवाप्सरसां प्रवेश इति। केचित्पुनः––न पटीक्षेपोपटीक्षेपे इति विग्रहं विधाय पटीक्षेपं विनैव प्रविशंतीति समर्थयन्ते तदप्यापाद्य कुचोद्यमात्रमित्यास्तां तावत्।**

इससे जान पड़ता है कि प्रवेशक की सूचना अत्यन्त आवश्यक होती थी और यह कार्य अंकों के आरम्भ में चेटी, दासी या अन्य ऐसे ही पात्रों के द्वारा सूचित किया जाता था। उसके बाद अभिनय के वास्तविक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते थे। विक्रमोर्वशी में प्रस्तावना में ही अप्सराओं की पुकार सुनाई पड़ती है और सूत्रधार रंगमंच से प्रस्थान कर जाता है और अप्सराएँ प्रवेश करती हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पटी अभी तक उठी नहीं है और अप्सराओं का प्रवेश हो गया है। रंगमंच के उसी अगले भाग पर वे आ गई हैं, जहाँ कि सूत्रधार ने प्रस्तावना की है। इसके बाद अपटीक्षेप होता है अर्थात् पर्दा उठता है, तब पुरुरवा का प्रवेश होता है और सामने हेमकूट का भी दृश्य दिखाई पड़ता है; इसलिए कुछ विशेष ढंग के परदे का नाम अपटी जान पड़ता है। सम्भवतः अपटीक्षेप उन स्थानों पर किया जाता था, जहाँ सहसा पात्र उपस्थित होता था। उसी अंक में अन्य पात्रों के द्वारा कथावस्तु के अन्य विभाग का अभिनय करने में अपटीक्षेप का प्रयोग होता था। यह निश्चय है कि कालिदास और शूद्रक इत्यादि प्राचीन नाटककार रंगमंच के पटीक्षेप से परिचित थे और दृश्यान्तर (ट्रांस्फर सीन) उपस्थित करने में उनका प्रयोग भी करते थे। यद्यपि वे प्राचीन रंगमंच आधुनिक ढंग से पूर्ण रूप से विकसित नहीं थे,

फिर भी रंगमंचों के अनुकूल कक्ष्या-विभाग और उनमें दृश्यों के लिए शैल, विमान और यान तथा कृत्रिम प्रासाद-यंत्र और पटों का उपयोग होता था।

नाट्य-मन्दिर में नर्त्तकियों का विशेष प्रबन्ध रहता था। जान पड़ता है कि रेचक, अंगहार, करण और चारियों के साथ पिण्डी-बन्ध अथवा सामूहिक नृत्य का भी आयोजन रंगमंच में होता था। अति प्राचीन काल में भारतवर्ष के रंगमंच में स्त्रियाँ नाटकों को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी गयीं। केवल पुरुषों के द्वारा अभिनय असफल होने लगे, तब रंगोपजीवना अप्सराएँ रंगमंच पर आयीं। कहा गया है—

कौशिकीश्लक्षणनैपथ्या श्रृंगाररससम्भवा
अशक्याः पुरुषैसातु प्रयोक्तुम् स्त्री जनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः।

रंगमंच पर काम करनेवाली स्त्रियों को अप्सरा, रंगोपजीवना इत्यादि कहते थे। मालविकाग्निमित्र में स्त्रियों को अभिनय की शिक्षा देनेवाले आचार्यों का भी उल्लेख है। उनका मत है कि पुरुष और स्त्री के स्वभावानुसार अभिनय उचित है; क्योंकि **स्त्रीणां स्वभावमधुरः कण्ठो नृणां बलत्वञ्च**—स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पुरुष में बल है; इसलिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें; पाठ्य अर्थात् पढ़ने की वस्तु का प्रयोग पुरुष करें। पुरुष का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नहीं माना जाता था। **एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं नृणां च पाठ्यविधिः।**

सामूहिक पिण्डीबन्ध आदि चित्रनृत्यों का रंगमंच पर अच्छा प्रयोग होता था। पिण्डीबन्ध चार तरह का होता था—पिण्डी, श्रृंखलिका, लताबन्ध और भेद्यक। नई नर्त्तकियों के द्वारा नृत्य में अंगहारों के साथ, परस्पर विचित्र बाहुबंध और सम्बन्ध कर के अनेक आकार बनाये जाते

थे। अभिनय में रंगमंच पर इनकी भी आवश्यकता होती थी। और पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी रंगमंच-शाला की उच्च कोटि की शिक्षा मिलती थी। नाटकोपयोगी दृश्यों के निर्माण-वस्त्र तथा आयुधों के साथ कृत्रिम केश-मुकुटों और दाढ़ी इत्यादि का भी उल्लेख नाट्य-शास्त्र में मिलता है। केश-मुकुट भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए कई तरह के बनते थे।

रक्षो दानवदैत्यानां पिककेशकृतानि तु
हरिश्मश्रूणि च तथा मुखशीर्षाणि कारयेत्।

(ना० शा० २२–१४३)

कोयल के पंखों से दैत्य-दानवों की दाढ़ी और मूँछ भी बनाई जाती थी। मुकुट अभिनय के लिए भारी न हों, इसलिए अभ्रक और ताम्र के पतले पत्रों से हलके बनाये जाते थे। कंचुक इत्यादि वस्त्रों का भी नाट्य-शास्त्र में विस्तृत वर्णन है। इन वस्तुओं के उपयोग में इस बात का भी विचार किया जाता था कि नाटक के अभिनय में सुविधा हो। नाटक के अभिनय में दो विधान माननीय थे, और उन्हें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी कहते थे। भरत के समय में ही रंगमंचों में स्वाभाविकता पर ध्यान दिया जाने लगा था। रंगमंच पर ऐसे अभिनय को लोकधर्मी कहते थे। इस लोकधर्मी अभिनय में रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का उपयोग बहुत कम होता था। **स्वभावो लोकधर्मी तु नाट्यधर्मी विकारतः** (१९३, अ० १३)।

स्वाभाविकता का अधिक ध्यान केवल उपकरणों में ही नहीं; किन्तु आंगिक अभिनय में भी अभीष्ट था। उसमें बहुत अंग-लीला वर्जित थी।

अतिसत्व क्रियाएँ असाधारण कर्म, अतिभाषित लोकप्रसिद्ध द्रव्यों का उपयोग अर्थात् शैल, यान और विमान आदि का प्रदर्शन और ललित अंगहार जिसमें प्रयुक्त होते थे—रंगमंच के ऐसे नाटकों को नाट्यधर्मी कहते थे। स्वगत, आकाश-भाषित इत्यादि तब भी अस्वाभाविक माना

जाता था, और उनका प्रयोग नाट्यधर्मी अभिनय में ही रंगमंच पर किया जाता था।

आसन्नोक्तं च यद् वाक्यम् न शृण्वन्ति परस्परम्
अनुक्तं श्रूयते वाक्यम् नाट्यधर्मी तु सा स्मृता !

प्राचीन रंगमंच में स्वगत की योजना, जिसमें कि समीप का उपस्थित व्यक्ति सुनी बात को अनसुनी कर जाता है, नाट्यधर्मी अभिनय के ही अनुकूल होता था ; और 'भाण' में आकाश-भाषित का प्रयोग भी नाट्यधर्मी के ही अनुकूल है। व्यंजना-प्रधान अभिनय का भी विकास प्राचीन रंगमंच पर हो गया था। भावपूर्ण अभिनयों में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। नाट्य-शास्त्र के २६वें अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है। पक्षियों का रेचक से, सिंह आदि पशुओं का गति-प्रचार से, भूत-पिशाच और राक्षसों का अंगहार से अभिनय किया जाता था। इस भावाभिनय का पूर्ण स्वरूप अभी भी दक्षिण के कथकलि नृत्य में वर्तमान है।

रंगमंच में नटों के गति-प्रचार (मूवमेण्ट), वस्तु-निवेदन (डिलीवरी), सम्भाषण (स्पीच) इत्यादि पर भी अधिक सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता था। और इन पर नाट्य-शास्त्र में अलग-अलग अध्याय ही लिखे गये हैं। रंगमंच पर जिस कथा का अवतरण किया जाता था, उसका विभाग भी समय के अनुसार और अभिनय की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए किया जाता था।

ज्ञात्वा दिवसांस्तांस्तान्क्षणयाममुहूर्त्तलक्षणोपेतान्।
विभजेत् सर्वमशेषम् पृथक् पृथक् काव्यमंकेषु॥

प्रायः एक दिन का कार्य एक अंक में पूरा हो जाना चाहिए और यदि न हो सके, तो प्रवेशक और अंकावतार के द्वारा उसकी पूर्ति होनी चाहिए। एक वर्ष से अधिक का समय तो एक अंक में आना नहीं चाहिए। प्रवेशक, अंकावतार और अपटीक्षेप का प्रयोग आज-कल की तरह दृश्य

या स्थान को प्रधानता देकर नहीं किया जाता था ; किन्तु वे कथावस्तु के विभाजन-स्वरूप ही होते थे। पाँच अंक के नाटक रंगमंच के अनुकूल इसलिए माने जाते थे कि उनमें कथा-वस्तु की पाँचों संधियों का क्रम-विकास होता था। और कभी-कभी हीन-संधि नाटक भी रंगमंच पर अभिनीत होते थे, यद्यपि वे नियम-विरुद्ध माने जाते थे। दूसरी, तीसरी, चौथी संधियों का अर्थात् विन्दु, पताका और प्रकरी का तो लोप हो सकता था, किन्तु पहली और पाँचवीं संधि का अर्थात् बीज और कार्य का रहना आवश्यक माना गया है। आरम्भ और फलयोग का प्रदर्शन रंगमंच पर आवश्यक माना गया है।

रंगमंच की वाध्य-वाधकता का जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य वाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। क्योंकि रसानुभूति के अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किये जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप-परिवर्तन किया है।

मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की सर्व-साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। धर्मांध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मण्डपों में छोटे-मोटे अभिनय सर्व-साधारण के लिए सुलभ रह गये। उत्तरीय भारत में तो औरंगजेब के समय में ही साधारण संगीत का भी जनाजा निकाला जा चुका था ; किन्तु रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के आने के पहले भी देखते रहे हैं। इनमें मुख्यतः नौटंकी (नाटकी ?)

और भाँड़ ही थे। रामलीला और यात्राओं का भी नाम लिया जा सकता है। सार्वजनिक रंगमंचों के विनष्ट हो जाने पर यह खुले मैदानों में तथा उत्सवों के अवसर पर खेले जाते थे। रामलीला और यात्रा तो देवता-विषयक अभिनय थे ; किन्तु नाटकी और भाँड़ों में शुद्ध मानव-सम्बन्धी अभिनय होते थे। मेरा निश्चित विचार है कि भाँड़ों की परिहास की अधिकता संस्कृत-भाण मुकुन्दानन्द और रससदन आदि की परम्परा में है, और नाटकी या नौटंकी प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियाँ हैं। जैसे रामलीला पाठ्य-काव्य रामायण के आधार पर वैसी ही होती है, जैसे प्राचीन महाभारत और वाल्मीकि के पाठ्य-काव्यों के साथ अभिनय होता था। दक्खिन में अब भी कथकलि अभिनय उस प्रथा को सजीव किये है। प्रवृत्ति वही पुरानी है ; परन्तु उत्तरीय भारत में वाह्य प्रभाव की अधिकता के कारण इनमें परिवर्तन हो गया है और अभिनय की वह बात नहीं रही। हाँ, एक बात अवश्य इन लोगों ने की है और वह है चलते-फिरते रंगमंचों की या विमानों की रक्षा।

वर्तमान रंगमंच अन्य प्रभावों से अछूता न रह सका, क्योंकि विप्लव और आतंक के कारण प्राचीन विशेषताएँ नष्ट हो चुकी थीं। मुगल-दरबारों में जो थोड़ी-सी संगीत-पद्धति तानसेन की परम्परा में बच रही थी, उसमें भी वाह्य प्रभाव का मिश्रण होने लगा था। अभिनयों में केवल भाण ही मुगल-दरबार में स्वीकृत हुआ था ; वह भी केवल मनोरंजन के लिए।

पारसी व्यवसायियों ने पहले-पहल नये रंगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी——इन्द्र-सभा, चित्रा-बकावली, चन्द्रावली और हरिश्चन्द्र आदि अभिनय होते थे, अनुकरण था रंगमंच में शेक्सपीरियन स्टेज का ; क्योंकि वहाँ भी विक्टोरियन युग की प्रेरणा ने रंगमंच में विशेष परिवर्तन कर लिया था। १९वीं शताब्दी के मध्य में कीन की सहायता से अँग्रेजी रंगमंच में पुरावृत्त की खोजों के आधार पर, शैक्सपियर के नाटकों के

अभिनय की नई योजना हुई, और तभी हेनरी इर्विंग-सदृश चतुर नट भी आये। किन्तु साथ ही सूक्ष्म तथा गम्भीर प्रभाव डालनेवाली इब्सन की प्रेरणा भी पश्चिम में स्थान बना रही थी, जो नाटकीय यथार्थवाद का मूल है।

भारतीय रंगमंच पर इस पिछली धारा का प्रभाव पहले-पहल बंगाल पर हुआ; किन्तु इन दोनों प्रभावों के बीच में दक्षिण में भारतीय रंगमंच निजी स्वरूप में अपना अस्तित्व रख सका। कथकलि नृत्य-मन्दिरों की विशाल संख्याओं में मर नहीं गया था। भावाभिनय अभी होते रहते थे। कदाचित् संस्कृत-नाटकों का अभिनय भी चल रहा था, बहुत दबे-दबे। आंध्र ने आचार्यों के द्वारा जिस धार्मिक संस्कृति का पुनरावर्तन किया था, उसके परिणाम में संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुद्धार और तत्सम्बन्धी साहित्य और कला की भी पुनरावृत्ति हुई थी। संस्कृत के नाटकों का अभिनय भी उसी का फल था। दक्षिण में वे सब कलाएँ सजीव थीं; उनका उपयोग भी हो रहा था। हाँ, बाली और जावा इत्यादि के मन्दिरों में इसी प्रकार के अभिनय अधिक सजीवता से सुरक्षित थे। ३० बरस पहले जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक-मंडली-द्वारा संस्कृत-मृच्छकटिक का अभिनय देखा था। उसकी भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है। कदाचित् उसका नाम 'ललित-कलादर्श-मण्डली' था।

दृश्यान्तर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी-स्टेज ने पश्चिमी ट्यूनों का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया। उसके इस काम में बंगाल ने भी साथ दिया; किन्तु उतने भद्दे ढंग से नहीं। बंगाल ने जितना पश्चिमी ढंग का मिश्रण किया, वह सुरुचि से बहुत आगे नहीं बढ़ा। चित्रपटों में सरलता उसने रक्खी; किन्तु पारसी स्टेज ने अपना भयानक ढंग बन्द नहीं किया। पारसी स्टेज में दृश्यों और परिस्थितियों के संकलन की प्रधानता है। वस्तु-विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो;

किन्तु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिए—कुछ नहीं तो एक असंबद्ध फूहड़ भड़ैती से ही काम चल जायगा।

हिन्दी के कुछ अकाल-पक्व आलोचक, जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद। अभी वे इतने भी सहनशील नहीं कि फूहड़ परिहास के बदले—जिससे वह दर्शकों को उलझा लेता है—तीन-चार मिनट के लिए काला परदा खींचकर दृश्यांतर बना लेने का अवसर रंगमंच को दें। हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलनेवाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया, और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है। हाँ, पारसी स्टेज के आरम्भिक विनय-सूत्रों में एक यह भी था कि वे लोग प्राचीन इंगलैंड के रंगमंचों की तरह स्त्रियों का सहयोग नहीं पसन्द करते थे। १८वीं शताब्दी में धीरे-धीरे स्त्रियाँ रंगमंच पर इंगलैंड में आईं; किन्तु सिनेमा ने स्त्रियों को, रंगमंच पर अबाध अधिकार दिया। बालकों को स्त्री-पात्र के अभिनय की अवांछनीय प्रणाली से छुटकारा मिला; किन्तु रंगमंचों की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उनमें अभाव; विशेषतः हिन्दी-रंगमंच के लिए। बहुत-से नाटक मंडलियों-द्वारा इसलिए नहीं खेले जाते कि उनके पास स्त्री-पात्र नहीं हैं। रंगमंच की तो अकाल-मृत्यु हिन्दी में दिखाई पड़ रही है। कुछ मंडलियाँ कभी-कभी साल में एकाध बार वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर, कोई अभिनय कर लेती हैं। पुकार होती है आलोचकों की, हिन्दी में नाटकों के अभाव की। रंगमंच नहीं है, ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता। क्योंकि दोष-दर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है, जैसा कीन ने किया था। युग के पीछे हम चलने का स्वाँग भरते हैं, हिन्दी में नाटकों

का यथार्थवाद अभिनीत देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों का फिर से सवाक्-चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक्-चित्र बनाने के लिए उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की स्वरूपता के लिए टनों मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इब्सनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण कर के जैसा पश्चिम ने नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम-विकास कैसे किया जा सकता है यदि हम पश्चिम के आज को ही सब जगह खोजते रहेंगे? और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों का सोचने का, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है? अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना, साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमन्त्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करनेवाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्दबाजी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करनेवालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है; किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किन्तु इतना ही अलम् नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है; इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय को भी देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत

रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नये को नहीं पाया है।

श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देखकर जिस हिन्दी-रंगमंच की स्वतन्त्र स्थापना की थी, उसमें इन सब का समन्वय था। उस पर सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी सब का सहयोग था। हिन्दी-रंगमंच की इस स्वतंत्र चेतनता को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नई पश्चिमी प्रेरणाएँ हमारी पथ-प्रर्दाशका न बन जायँ। हाँ, उन सब साधनों से जो वर्तमान विज्ञान-द्वारा उपलब्ध हैं, हमको वंचित भी न होना चाहिए। आलोचकों का कहना है कि "वर्तमान युग की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविकता भी हो।" वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज़्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं—हम को अपराधियों से घृणा नहीं, सहानुभूति रखनी चाहिए। इसका उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य के समर्थन में भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जायँगे। प्रभाव का असंबद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। रेडियो ड्रामा के संवाद भी लिखे जाने लगे हैं, जिनमें दृश्यों का सम्पूर्ण लोप है। दृश्य वस्तु श्रव्य बनकर संवाद में आती है; किन्तु साहित्य में एक प्रकार के एकांकी नाटक भी लिखने का प्रयास हो रहा है। वे यही समझकर तो लिखे जाते हैं कि उनका अभिनय सुगम है; किन्तु उनका अभिनय होता कहाँ है? यह पाठ्य छोटी कहानियों का ही प्रतिरूप नाट्य है। दृश्यों की योजना साधारण होने पर भी खिड़की के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने में मकड़ी का जाला दृश्यों में प्रमुख होते हैं—वास्तविकता के समर्थन में!

भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं; किन्तु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर

गायी गयी गजलों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर तीन बार तालियाँ पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भाषा के अबोल-चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही समझ में आते हैं और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही हैं? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमंच से अच्छी तरह करता है। एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था, वह बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थीं! वर्तमान युग की भाषा-सम्बन्धी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है; किन्तु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं, तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जायगा? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी-नाटकों के लिए ही है।

मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए; किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट कर के कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी-नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों,

जो व्यावहारिक है। हाँ रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है । फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु-रूप से कर सकेंगे। इन सब के सहयोग से ही हिन्दी-रंगमंच का अभ्युत्थान सम्भव है।

आरम्भिक पाठ्य काव्य

नाट्य से अतिरिक्त जो काव्य है, उसे रीति-ग्रन्थों में श्रव्य कहते हैं। कारण कि प्राचीन काल में ये सब सुने या सुनाये जाते थे; इसलिए श्रुति, अनुश्रुति इत्यादि शब्द धर्म-ग्रन्थों के लिए भी व्यवहृत थे। किन्तु आज-कल तो छपाई की सुविधा के कारण उन्हें पाठ्य कहना अधिक सुसंगत होगा। वर्णनात्मक होने के कारण वे काव्य जो अभिनय के योग्य नहीं, पाठ्य ही हैं।

प्लेटो के अनुसार काव्य वर्णनात्मक और अभिनयात्मक दोनों ही हैं। जहाँ कवि स्वयं अपने शब्दों में वर्णन करता है, वहाँ वर्णनात्मक और जहाँ कथोपकथन उपन्यस्त करता है, वहाँ अभिनयात्मक। ठीक इसी तरह का एक और पश्चिमी सिद्धान्त है, जो कहता है कि नाटक संगीतात्मक और महाकाव्य है। परन्तु पाठ्य-विभेद नाट्य-काव्य के भीतर तो वर्तमान रहता है; हाँ नाट्य-भेद का वर्णनात्मक में अभाव है। पाठ्य में एक द्रष्टा की वस्तु की वाह्यवर्णना की प्रधानता है; यद्यपि वह भी अनुभूति से सम्बद्ध ही है। यह कहा जा सकता है कि यह परोक्ष अनुभूति है, नाट्य की तरह

अपरोक्ष अनुभूति नहीं। जहाँ कवि अपरोक्ष अनुभूतिमय (Subjective) हो जाता है, वहाँ यह वर्णनात्मक अनुभूति रस की कोटि तक पहुँच जाती है। यह आत्मा की अनुभूति विशुद्ध रूप में 'अहम्' की अभिव्यक्ति का कारण बन जाती है। साधारणतः सिद्धान्त में यह रहस्यवाद का ही अंश है।

इसी तरह वाह्य वर्णनात्मक अर्थात् 'इदम्' का परामर्श भी आत्मा के विस्तार की ही आलोचना और अनुभूति है, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने की क्रिया है, 'इदम्' को 'अहम्' के समीप लाने का उपाय है। वर्णनों से भरे हुए महाकाव्य में जीवन और उसके विस्तारों का प्रभावशाली वर्णन आता है। उसके सुख-दुःख, हर्ष-क्रोध, राग-द्वेष का वैचित्र्यपूर्ण आलेख्य मिलता है। जब हम देखते हैं कि वेद और वाल्मीकि दोनों ही आरम्भ में गाये गये हैं, तब यह धारणा हो जाती है कि वे जीवन-तत्त्व को समझने के उत्साह हैं।

आरम्भ में बड़े-बड़े प्रभावशाली कर्मों का वर्णन कवियों ने अपनी रचना में किया। मानव के हर्ष-शोक की गाथाएँ गायी गयीं। कहीं उन्हें महत्ता की ओर प्रेरित करने के लिए, कहीं अपनी दुःख की, अभाव की गाथा गाकर जी हलका करने के लिए। वैदिक से लेकर लौकिक तक ऐसे श्रव्य-काव्यों का आधार होता था इतिहास। जहाँ नाट्य में अभ्यन्तर की प्रधानता होती है, वहाँ श्रव्य में वाह्यवर्णन की ही मुख्यता अपेक्षित है। वह बुद्धिवाद से अधिक सम्पर्क रखनेवाली वस्तु बनती है; क्योंकि आनन्द से अधिक उसमें दुःखानुभूति की व्यापकता होती है और वह सुनाया जाता था, जनवर्ग को अधिकाधिक कष्टसहिष्णु, जीवन-संघर्ष में पटु तथा दुःख के प्रभाव से परिचित होने के लिए। नाटकों की तरह उसमें रसात्मक अनुभूति, आनन्द का साधारणीकरण न था। घटनात्मक विवेचनाओं की प्रभावशालिनी परम्परा में उत्थान और पतन की कड़ियाँ जोड़कर महाकाव्यों की सृष्टि हुई थी, विवेकवाद को पुष्ट करने के लिए।

ये वर्णनाएँ दोनों तरह की प्रचलित थीं। काल्पनिक अर्थात् आदर्शवादी, वस्तुस्थिति अर्थात् यथार्थवादी। पहले ढंग के लेखकों ने जीवन को कल्पनामय आदर्शों से पूर्ण करने का प्रयत्न किया। समुद्र पाटना, स्वर्ग विजय करना, यहाँ तक कि असफल होने पर शीतल मृत्यु से आलिंगन करने के लिए महाप्रस्थान करना, इनके वर्णन के विषय बन गये। इन लोगों ने काव्य-न्याय की प्रतिष्ठा के साथ काल्पनिक अपराधों की भी सृष्टि की, केवल आदर्श को उज्ज्वल, विवेक-बुद्धि को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए। भारतीय साहित्य में रामायण तथा उसके अनुयायी बहुत-से काव्य प्रायः आदर्श और चारित्र्य के आधार पर ग्रथित हुए हैं। सब जगह **कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्, धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च** की पुकार है। चारित्र्य की प्रधानता उसकी विजय से अंकित की जाती है। रामायण-काल का शोक श्लोक में जिस तरह परिणत हो गया, वह तो विदित ही है; परन्तु चरित्र में आदर्श की कल्पना पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है।

महाभारत में भी करुण-रस की कमी नहीं है; परन्तु वह आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी-सा हो गया है। और तब उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य का भी पूरा समावेश हो गया है। उसके भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन, युधिष्ठिर अपनी चरित्रगत विशिष्टता में ही महान् हैं। आदर्श का पता नहीं; परन्तु ये महती आत्माएँ मानो निन्दनीय सामाजिकता की भूमि पर उत्पन्न होकर भी पुरुषार्थ के बल पर दैव, भाग्य, विधानों और रूढ़ियों का विस्तार करती हैं। वीर कर्ण कहता है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम्।

उसके बाद आता है पौराणिक प्राचीन गाथाओं का साम्प्रदायिक उपयोगिता के आधार पर संग्रह। चारों ओर से मिलाकर देखने पर यह भी बुद्धिवाद का, मनुष्य की स्व-निर्भरता का, उसके गर्व का प्रदर्शन ही रह जाता है।

मानव के सुख-दुःख की गाथाएँ गायी गयीं। उनका केन्द्र होता था धीरोदात्त विख्यात लोकविश्रुत नायक। महाकाव्यों में महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है।

नाटक में, जिसमें कि आनन्द-पथ का, साधारणीकरण का, सिद्धान्त था, लघुतम के लिए भी स्थान था। प्रकरण इत्यादि में जन-साधारण का अवतरण किया जा सकता था; परन्तु विवेक-परम्परा के महाकाव्यों में महानों की ही चर्चा आवश्यक थी।

लौकिक संस्कृत का यह पौराणिक या आरम्भिक काल पूर्णरूप से पश्चिम के क्लासिक का समकक्ष था। भारत में इसके बहुत दिनों के बाद छोटे-छोटे महाकाव्यों की सृष्टि हुई। इसे हम तुलना की दृष्टि से भारतीय साहित्य का रोमाण्टिक-काल कह सकते हैं, जिसमें गुप्त और शुंग-काल के सम्राटों की छत्रच्छाया में, जब बाहरी आक्रमण से जाति हीनवीर्य हो रही थी, अतीत को देखने की लालसा और बल ग्रहण करने की पिपासा जगने पर पूर्व काल के अतीत से प्रेम--भारत की यथार्थवादवाली धारा में कथा-सरित्सागर और दशकुमारचरित का विकास--विरह-गीत--महायुद्धों के वर्णन संकलित हुए। कालिदास, अश्वघोष, दण्डी, भवभूति और भारवि का काव्य-काल इसी तरह का है।

हिन्दी में संकलनात्मक महाकाव्यों का आरम्भ भी युगवाणी के अनुसार वीर-गाथा से आरम्भ होता है। रासो और आल्हा, ये दोनों ही पौराणिक काव्य के ढंग के महाभारत की परम्परा में हैं। वाल्मीकि का अवतार तो पीछे हुआ, रामायण की विभूति तो तुलसी के दलों में छिपी थी। यद्यपि रहस्यवादी सन्त आत्म-अनुभूति के गीत गाते ही रहे, फिर भी बुद्धिवाद की साहित्यिक धारा राष्ट्र-सम्बन्धिनी कविताओं, धार्मिक सम्प्रदायों के प्रतीकों को विकसित करने में लगी रही। कुछ सन्त लोग बीच-बीच में अपने आनन्द-मार्ग का जय-घोष सुना देते थे। हजारों बरस तक हिन्दी में बुद्धिवाद की ही तूती बोलती रही, चाहे पश्चिमी बुद्धिवाद के अनुयायी

उसे भारतीय पतन-काल की मूर्खता ही समझकर अपने को सुखी बना लें। बाहरी आक्रमणों से भयभीत, अपने आनन्द को भूली हुई जनता साहित्य के आनन्द की साधना कहाँ से कर पाती? सार्वजनिक उत्सव-प्रमोद बन्द थे। नाटचशालाएँ उजड़ चुकी थीं। मौखिक कहा-सुनी, मन्दिरों के कीर्तनों और छोटे-मोटे साम्प्रदायिक व्याख्यानों के उपयोगी पद्यों का सृजन हो रहा था। भिन्नता बतानेवाली बुद्धि साहित्य के निर्माण में, सम्प्रदायों का अवलम्बन लेकर, द्वैत-प्रथा की ही व्यंजना करने में लगी रही। हाँ प्रेम, विरह-समर्पण के लिए पिछले काल के संस्कृत रीति-ग्रन्थों के आधार पर वात्सल्य आदि नये रसों की काव्यगत अधूरी सृष्टि भी हो चली थी। यही श्रव्य या पाठ्य-काव्यों की सम्पत्ति थी। नाटचशास्त्र में उपयोगी पाठ्य का विमर्श किया गया था। यह काव्यगत पाठ्य ही का साहित्यिक विस्तार है, जिसमें रस, भाव, छन्द, अलंकार, नायिकाभेद, गुण-वृत्ति और प्रवृत्तियों का समावेश है। जिनको लेकर श्रव्य-काव्य का विस्तार किया गया है, वे दस अंग नाटचाश्रयभूत हैं। अलंकार के मूल चार हैं— उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इन्हीं आरम्भिक अलंकारों को लेकर आलंकारिकों ने सैकड़ों अलंकार बनाये। काव्य-गुण, समता, समाधि, ओज, माधुर्य आदि की भी उद्भावना इन्हीं लोगों ने की थी। नायिकाएँ जिनसे पिछले काल का साहित्य भरा पड़ा है, नाटकोपयोगी वस्तु हैं। वृत्तियाँ कैशिकी, भारती आदि भी नाटचानुकूल भाषा-शैली के विश्लेषण हैं। और भी सूक्ष्म, देश-सम्बन्धी भारत की मानवीय प्रवृत्तियों की आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और मागधी की भी नाटचों में आवश्यकता बतायी गयी है। इस तरह प्राचीन नाटच-साहित्य में उन सब साहित्य अंगों का मूल है, जिनके आधार पर आलंकारिक साहित्य की आलोचना विस्तार करती है।

प्राचीन अद्वैत भावापन्न नाटच-रसों को भी अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न इसी काल में हुआ। जीवन की एकांगी दृष्टि अधिक सचेष्ट

थी। सन्तों को साहित्य में स्थान नहीं मिला। वे लाल बुझक्कड़ समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुए। नाचने, गाने, बजानेवाले, नटों, कुशीलयों से उनका रस छीनकर भाँड़ों और मुक्तक के कवियों ने विवेकवाद की विजय का डंका बजाया। कबीर ने कुछ रहस्यवाद का लोकोपयोगी अनुकरण आरम्भ किया था कि विवेक हुंकार कर उठा।

महाकवि तुलसीदास ने आदर्श, विवेक और अधिकारी-भेद के आधार पर युगवाणी रामायण की रचना की। उनका प्रश्न और उत्तर एक सन्देश के रूप में हुआ :—

अस प्रभु अछत हृदय अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

कहना न होगा कि दुःखों की अनुभूति से, बुद्धिवाद ने एक त्राणकारी महान् शक्ति का अवतरण किया। सब के हृदयों में उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया; परन्तु परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए।

कभी-कभी राम के ही दो भेद बनाकर द्वन्द्व खड़ा कर दिया जाता। कबीर के निर्गुण राम के विरुद्ध साकार, सक्रिय और समर्थ राम की अवतारणा तुलसीदास ने की। हाँ, मर्यादा की सीमा राम और लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण का भी संघर्ष कम न रहा। ये दार्शनकि प्रतीक विवेकवाद ही थे, यद्यपि कृष्ण में प्रेम और आनन्द की मात्रा भी मिली थी।

बीच-बीच में जो उलझनें आनन्द और विवेक की साहित्यवाली धारा में पड़ीं, उनका क्रमोल्लेख न कर के मैं यही कहना चाहता हूँ कि काव्य-धारा 'मानव में राम हैं—या लोकातीत परम शक्ति हैं' इसी के विवेचन में लगी रही। मानव ईश्वर से भिन्न नहीं है, यह बोध, यह रसानुभूति विवृत नहीं हो सकी।

किसी सीमा तक राधा और कृष्ण की स्थापना में स्वात्मानन्द का ही विज्ञापन, द्वैत दार्शनिकता के कारण, परोक्ष अनुभूति के रूप में होता रहा। श्रीकृष्ण में नर्तक-भाव का भी समावेश था, मधुरता के साथ। प्रेम की पुट में तल्लीनता ही द्वैतदर्शन की सीमा बनी। भारत के कृष्ण

में, अट्टारह अक्षौहिणी के विनाश-दृश्य के सूत्रधार होने की भी क्षमता थी, नर्तक होने की रसात्मकता भी थी। वैदिक इन्द्र की पूजा बन्द कर के इन्द्र के आत्मवाद को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न श्रीकृष्ण ने किया था; किन्तु कृष्ण के आत्मवाद पर बुद्धिवाद का इतना रंग चढ़ाया गया कि आत्मवाद तो गौण हो गया, पूजा होने लगी श्रीकृष्ण की। फिर विवेक-वाद की साहित्यिक धारा को उनमें पूर्ण आलम्बन मिला। उन्हीं के आधार पर अपनी सारी भावनाओं को कुछ-कुछ रहस्यात्मक रूप से व्यक्त करने का अवसर मिला। मीरा और सूर, देव और नन्ददास इसी विभूति से साहित्य को पूर्ण बनाते रहे। रस की प्रचुरता यद्यपि थी, क्योंकि भारतीय रीति ग्रन्थों ने उन्हें श्रव्य में भी बहुत पहले ही प्रयुक्त कर लिया था, फिर भी नाट्य-रसों का साधारणीकरण उनमें नहीं रहा।

एक बात इस श्रव्य-काव्य के सम्बन्ध में और भी कही जा सकती है। अवध में कबीर के समन्वयकारक, हिन्दू-मुसलमानों के सुधारक निर्गुण राम और तुलसीदास के पौराणिक राम के धार्मिक बुद्धिवाद का विरोध, भाषा और प्रान्त दोनों साधनों के साथ, व्रजभाषा में हुआ। कृष्ण में प्रेम विरह और समर्पणवाले सिद्धान्त का प्रचार कर के भागवत के अनुयायी श्री वल्लभस्वामी और चैतन्य ने उत्तरीय भारत में उसी कारण अधिक सफलता प्राप्त की कि उनकी धार्मिकता में मानवीय वासनाओं का उल्लेख उपास्य के आधार पर होने लगा था। फलतः कविता का वह प्रवाह व्यापक हो उठा। सुधारवादी शुद्ध धार्मिक ही बने रहे। रामायण का धर्म-ग्रन्थ की तरह पाठ होने लगा; परन्तु साहित्य-दृष्टि से जन-साधारण ने कृष्ण-चरित्र को ही प्रधानता दी।

समय-समय पर आवरण में पड़ी हुई मानवता अपना प्रदर्शन करती ही है। मनुष्य अपने सुख-दुःख का उल्लेख चाहता है। वर्तमान खड़ी-बोली उसी आत्मानुभूति को, युग की आवश्यकता के अनुसार—वह राष्ट्रीयता की हो या वेदना की—सीधे-सीधे कहने में लगी। कहना न होगा

कि सीतल इत्यादि ने खड़ी बोली की नींव पहले से रख दी थी। सहचरी शरण—कहीं-कहीं कबीर और श्री हरिश्चन्द्र ने भी इसको अपनाया था।

हिन्दी के इस पाठ्य या श्रव्य-काव्य में ठीक वही अव्यवस्था है, जैसी हमारे सामाजिक जीवन में विगत कई सौ वर्षों से होती रही है। रसात्मकता नहीं, किन्तु रसाभास ही होता रहा। यद्यपि भक्ति को भी इन्हीं लोगों ने मुख्य रस बना लिया था, किन्तु उसमें व्याज से वासना की बात कहने के कारण वह दृढ़ प्रभाव जमाने में असमर्थ थी। क्षणिक भावावेश हो सकता था। जगत् और अन्तरात्मा की अभिन्नता की विवृत्ति उसमें नहीं मिलेगी। एक तरह से. हिन्दी-काव्यों का यह युग सन्दिग्ध और अनिश्चित-सा है। इसमें न तो पौराणिक काल की महत्ता है और न है काव्य-काल का सौन्दर्य। चेतना राष्ट्रीय पतन के कारण अव्यवस्थित थी। धर्म की आड़ में नये-नये आदर्शों की सृष्टि, भय से त्राण पाने की दुराशा ने इस युग के साहित्य में, अवध वाली धारा में मिथ्या आदर्शवाद और व्रज की धारा में मिथ्या रहस्यवाद का सृजन किया।

मिथ्या आदर्शवाद का उदाहरण—

जानते न अधम उधारन तिहारो नाम,
और की न जानें पाप हम तो न करते !

मिथ्या रहस्यवाद—

ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावत।

इनका प्रभाव इतना बढ़ा कि शुद्ध आदर्शवादी महाकवि तुलसीदास का रामायण काव्य न होकर धर्म-ग्रन्थ बन गया। सच्चे रहस्यवादी पुरानी चाल की छोटी-छोटी मण्डलियों में लावनी गाने और चंग खड़काने लगे।

यथार्थवाद और छायावाद

हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुनरुद्धार-काल में श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य रसानुभूति का महत्त्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भाव-धारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों में 'चन्द्रावली' में प्रेम-रहस्य की उज्ज्वल नीलमणि वाली रस-परम्परा स्पष्ट थी और साथ ही 'सत्य हरिश्चन्द्र' में प्राचीन फल-योग की आनन्दमयी पूर्णता थी, किन्तु 'नील-देवी', 'भारत-दुर्दशा' इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेम-योगिनी' हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है। और **देखी तुमरी कासी** वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूँ। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी समय प्रारम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था

वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिन्दी में उसी समय आरम्भ हुआ। **राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है** वाला सिद्धान्त कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण आर्य्य-संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आन्दोलन करनेवाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग के पुरुषों के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन-मात्र समझने लगा। दैवी शक्ति से तथा महत्त्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युगवाणी में प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेण्ट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेन्दु जी को उनका विरोध करना पड़ा। उन्हीं दिनों हिन्दी और बँगला के महाकवियों में परिचय भी हुआ। श्री हरिश्चन्द्र और श्री हेमचन्द्र ने हिन्दी और बँगला में आदान-प्रदान किया। हेमचन्द्र ने बहुत-सी हिन्दी की प्राचीन कविताओं का अनुवाद किया और हरिश्चन्द्र ने 'विद्या-सुन्दर' आदि का अनुवाद किया।

जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलतः आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर--जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही सम्बद्ध होती थीं--मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है। भारत के लिए उस समय दोनों ही वास्तविक थे--यहाँ के दरिद्र जन-साधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किन्तु जन-साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेक-दम्भपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य, जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे, वही क्षुद्रता में महान् दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख-संवलित मानवता को स्पर्श करनेवाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है--जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं--उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं। और वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निन्दनीयता भी--जो सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित रहती हैं--अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं। वास्तव में कर्म, जिनके सम्बन्ध

में देश, काल और पात्र के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वे सम्पूर्ण रूप से न तो भले हैं और न बुरे हैं, कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह सन्दिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरुष नर है ; इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्मनिरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है।

यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता ; क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था ; किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है ; इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।

सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकार का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्त्व और लघुत्व दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म-अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणी-करण का संकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य-साहित्य ही बना।

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें वाह्य वर्णन की

प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा वाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दों के अनुसार—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोपि हेतुः
न खलु वहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते॥

वाह्य उपाधि से हटकर आन्तरहेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे; किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्य्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति

की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है—

प्रतिभा प्रथमोद्‌भेदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (**शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम् —लोचन २०८**) कुन्तक के मत में ऐसी भणिति **शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी** होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह **उज्ज्वला छायातिशयरमणीयता (१३३)** वक्रता की उद्‌भासिनी है।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्॥३४॥

२ उन्मेष व० जी०।

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—**वे आँखें कुछ कहती हैं।**

अथवा—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्यां-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति॥

किन्तु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया।

यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यंग्यो ध्वनिवर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च सप्रबन्धेपि दीप्यते॥

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में—

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषितां॥३-३८॥

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ही है, घूँघटवाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है——

परां दुर्लभां छायां आत्मरूपतां यान्ति।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत के काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्त्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था। **निरहंकार मृगांक, पृथ्वी गतयौवना, संवेदनमिवाम्बरं**, मेघ के लिए **जनपदबधूलोचनैः पीयमानः** या कामदेव के कुसुम-शर के लिए **विश्वसनीयमायुधं** ये सब प्रयोग वाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सादृश्य को प्रकट करनेवाले हैं। और भी—

आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि, मधुनक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं रजः इत्यादि श्रुतियों में इस प्रकार की अभिव्यंजनाएँ बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिर-निःशब्दता का अनुभव किया था—

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययुः॥

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिए आनन्दवर्धन ने कहा है—

तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः (२—२९)

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए, तो कुछ लोग चौंके सही; परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। वाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब **वहति विकलं कायो न मुञ्चति चेतनाम्** की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया। कुन्तक के शब्दों में **अतिक्रान्तप्रसिद्ध-व्यवहारसरणि** के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विश्रृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है।

हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिविम्ब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श कर के भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।





